मिनी समयसार

विद्वत्रत्न डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया

मिनी समयसार

(आचार्य कुन्दकुन्द कृत समयसार की तात्पर्यवृत्ति में उपलब्ध 21 गाथाओं की टीका)

लेखिका

विद्वत्रत्न डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया

बी.ए.ऑनर्स, एम.ए., पी.एच.डी. (स्वर्णपदक प्राप्त)

मो. 09321295265 / Email: dpptmumbai@gmail.com

मुंबई (महाराष्ट्र)

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर-302 015

फोन : 0141-2707458, 2705581

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

मिनी समयसार : विद्वत्रत्न डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया

● **प्रथम संस्करण** : 2 हजार
(15 अगस्त, 2021)
स्वतंत्रता दिवस

● **E-book प्रथम संस्करण**
(25 मई, 2021)

मूल्य : **बीस रुपये**

टाइपसैटिंग :
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स,
ए-4, बापूनगर, जयपुर

मुद्रक :
रैनवो ऑफसेट प्रिंटर्स
बाईस गोदाम, जयपुर

कीमत कम करने में सहयोग

1.	अजित कुमार जैन	5,000
2.	श्री महेश जे पारेख, मुंबई	2,100
3.	श्रीमती गुणमाला रमेशचंदजी तारण, भोपाल	1,100
4.	सोनज एण्ड कंपनी, अकलूज	1,100
5.	श्रीमती शशि जैन (ध.प. सुरेशचंदजी जैन, शिवपुरी)	1,100
6.	श्री कैलाशचंदजी जैन, ठाकुरगंज	1,100
7.	श्री मानिकचंद जैन एडपैन, मुम्बई	1,100
8.	श्री विमलकुमार जैन, गुडगांव (हरियाणा)	1,100
9.	श्री रमेशचंदजी जैन, सूरत	1,100
10.	श्रीमती शारदाबेन रमणिकलालशाह, ओमान	1,100
	कुल राशि –	**15,900**

रिया ऋषभ पारेख (मुंबई)
की तरफ से
Parmagam Honours के सभी विद्यार्थियों को सप्रेम भेट।
हिना पारेख
(Tue. Batch, 2017, Parmagam Honours)
15000/-

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक 'मिनी समयसार' की लेखिका डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया बचपन से ही प्रतिभाशाली रही हैं। उन्होंने **पूत के लक्षण पालने में ही नज़र आ जाते हैं** – कहावत को चरितार्थ किया है। विद्वत्ता की दृष्टि से वे पिताश्री डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के पदचिन्हों पर ही चल रही हैं। उनके द्वारा अभी तक छोटी-बड़ी 47 पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। जिनकी सूची आगे प्रकाशित की गई है।

साथ-ही-साथ आपने जैन सिद्धान्तों पर आधारित अनेक 'गेम्स' भी बनाए हैं, जिनके खेलने के नियम भी जैन सिद्धान्तों का ज्ञान कराते हैं। इन 'गेम्स' की विशेषता यह है कि इनको खेलने से बच्चों को सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ अहिंसात्मक आचरण की प्रवृत्ति भी सहज विकसित हो जाती है। इनमें जीत हिंसात्मक कार्य मार-पीट से नहीं, **ज्ञान-ध्यान** से हासिल की जाती है। बच्चों को ज्ञान-ध्यान करने की प्रेरणा मिलती हैं।

आपने 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार एक समालोचनात्मक अध्ययन' विषय पर शोध कर राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की है। आपने अपने शोध ग्रन्थ में शोध समीकरणों (rules and regulations) को ध्यान में रखते हुए आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों और टीकाकारों का सर्वांगीण (सम्पूर्ण) विवेचन सरल-सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया है, जो कि विद्वत्जन और बुद्धिजीवी वर्ग के साथ-साथ जनसामान्य को भी अपनी ओर आकृष्ट (attract) करता है।

आपके द्वारा लिखी गई बाल पुस्तकें भी अद्यावधि (अब तक) जैन समाज में प्रचलित अन्य पाठ्यपुस्तकों से भिन्न शैली, रंगीन चित्रमय प्रस्तुति एवं मूल तत्वज्ञान के समावेश के कारण अपनी विशिष्ट पहचान रखती हैं।

आपकी सभी कृतियाँ अध्यात्मरस से सराबोर और भेदज्ञान से ओतप्रोत हैं। आप विभिन्न आयुवर्ग को ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न शैली में अध्यात्म को सरल भाषा में जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास कर रही हैं।

जिन अध्यात्म का सिरमौर 'समयसार' भी जन-जन के अध्ययन का विषय बने इसी दृष्टि से उन्होंने समयसार की 21 गाथाओं की टीका को सरल-सहज-बोधगम्य भाषा में प्रस्तुत किया है।

इंग्लिश माध्यम में पढ़ी-लिखी आज की पीढ़ी हिंदी के व्याकरण से नितांत अपरिचित है। संधि शब्दों को पढ़ने में, समझने में उन्हें परेशानी होती है। अतः वह पीढ़ी भी समयसार के मर्म को आसानी से जान सके, इस दृष्टि से इस पुस्तक में यथासंभव संधि विच्छेद कर विषय प्रस्तुत किया है।

जहाँ आवश्यकता महसूस हुई है, वहाँ इंग्लिश शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। जैसे - इस पुस्तक का नाम ही इसका सशक्त उदाहरण है। यद्यपि इस पुस्तक का नाम 'लघु समयसार' भी हो सकता था, तथापि 'मिनी समयसार' नामकरण द्वारा विदुषी लेखिका ने पुस्तक की सरलता का संदेश पाठकों तक पहुँचा दिया है।

इस पुस्तक की कुछ अन्य विशेषताएँ हैं –

(1) इसमें आचार्य कुन्दकुन्द की मूल गाथाओं को ही आधार बनाया गया है।

(2) इसमें 'तात्पर्यवृत्ति टीका' में उपलब्ध गाथाओं को भी 'आत्मख्याति की टीका' के समान महत्व दिया गया है। यही कारण है कि इस पुस्तक को 21 गाथाओं की टीका कहा गया है।

(3) इसमें तात्पर्यवृत्ति की गाथाओं की उपयोगिता भी बताई गई है। वे सभी गाथाएँ लगभग उपसंहारात्मक हैं; जिसमें विषय का रिपीटेशन दोष नहीं, गुण माना जाता है।

(4) समयसार किसे पढ़ना चाहिए? किन्हें उपयोगी है? श्रावकों को पढ़ना चाहिए या नहीं? – आदि शंकाओं के समाधान भी इस टीका में मिलते हैं।

(5) आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा शैली की विशेषताओं का वर्णन भी इसमें किया गया है।

'मिनी समयसार' पढ़ते ही दिमाग में एक 'इमेज' बनती है। वह इमेज आगे बढ़े, उस दृष्टिकोण से आप इसे पढ़ें और नाना प्रश्न आपके मन-मस्तिष्क में उठें; उससे पूर्व ही मैं बताना चाहता हूँ कि जैसा आप सोच रहे हैं, वैसा 437 गाथाओं का सार इसमें नहीं है। इसमें तो मात्र उनके आरंभ की 21 गाथाओं का ही विशेष विवेचन है। चूँकि इन गाथाओं में समस्त समयसार का सार आ गया है, अतः इसका नाम **'मिनी समयसार'** रखा गया है।

सभी व्युत्पन्नमतिमुनिराज और श्रावक - इन गाथाओं को समझकर उन्हें जीवन में अपनाकर सच्चे सुख की प्राप्ति की ओर अपना कदम बढ़ा सकते हैं। इसका विशेष स्पष्टीकरण लेखिका ने गाथाओं की व्याख्या में यथास्थान किया ही है।

विस्ताररुचि वाले शिष्यों के लिए तो समयसार की संपूर्ण गाथाएँ पठनीय, मननीय हैं।

प्रस्तुत टीका से सभी पाठक लाभान्वित हों, इसी भावना से 'मिनी समयसार' का प्रकाशन किया जा रहा है।

शीघ्र प्रकाशन व्यवस्था के लिए डॉ. अखिल बंसल का विशेष आभार।

15 अगस्त, 2021

परमात्म प्रकाश भारिल्ल
कार्यकारी महामंत्री
–पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

●

अपनीबात

मंगलाचरण

निज औघ से च्युत जिस तरह जल ढाल वाले मार्ग से।
बलपूर्वक यदि मोड़ दे तो आ मिले निज औघ से ।।
उसी तरह यदि मोड़ दे बलपूर्वक निजभाव को।
निजभाव से च्युत आत्मा निजभाव में ही आ मिले ।। कलश 94।।

मिनी समयसार 'स्वान्तः सुखाय' स्वयं के सुख के लिए लिखी गई पुस्तक है। अतः मेरा अंतर्मन ही इसकी प्रेरणा रहा है।

इस पुस्तक को लिखने के मेरे पास अनेक कारण, अनेक वर्षों से रहे हैं; किन्तु सबसे प्रबल कारण यह 'कोरोना काल' रहा है। कोरोना संक्रमित व्यक्ति 'क्वारंटाइन' होने पर जब एकदम से अकेला होकर व्यथित हो जाता है; तब 'समयसार' हमारा संबल कैसे बन सकता है? समयसार की वह मूल विषयवस्तु क्या है, कितनी है? – जिसे हम स्मृति में रख सकते हैं।

जब हम न लिख सकते हैं, न पढ़ सकते हैं; मात्र विकल्प कर सकते हैं – ऐसी मन:स्थिति में मैं अपने व्यर्थ के विकल्पों की दिशा समयसार के आधार पर बलपूर्वक–जबरदस्ती कैसे अपनी तरफ मोड़ सकती हूँ? – उसके लिए कितना व कैसा चिंतन किया जाए– वह विषयवस्तु, वह दिशा मुझे इन गाथाओं से मिली है।

बढ़ती वृद्धावस्था की असमर्थ दशा में हमारे मन में क्या विकल्प चलते हैं? – यह मेरे अध्ययन (study) का विषय सन् 2004 से ही रहा है, जब मैं 'तलाश सुख की' पुस्तक लिख रही थी। उक्त अध्ययन के दौरान मैंने महसूस किया कि हम मानवों के जीवन के अंत में कुछ समय ऐसा अवश्य आता है,

जब हम कुछ कर सकते नहीं, बोल सकते नहीं; पर मन में विकल्प हजारों चलते हैं। उस असहाय, पराधीन, शारीरिक कष्टों से भरपूर अवस्था में; मन में उठने वाले बेलगाम घोड़े से ये विकल्प अत्यंत कष्टदायी हो जाते हैं।

क्या इन बेलगाम विकल्पों पर लगाम कस सकते हैं? क्या हम इन विकल्पों की दिशा मोड़ सकते हैं? मृत्यु के सन्निकट, अंतिम क्षणों में मेरे मन में क्या विकल्प चलें? क्या कष्टदायी पलों को शांति से व्यतीत करने का कोई उपाय है?

यदि हाँ! तो कैसे और कब से? आदि-आदि अनेकों सवाल उठते थे मन में!

उक्त सभी का समाधान मिला मुझे समयसार में।

उक्त अध्ययन के दौरान मैंने पाया कि हमारे सभी के जीवन में लगभग 90% कार्य हमारे 'माइंड सेट' से गाईड होते हैं। यह हमारा माइंड सेट भी हम सोच-समझकर नहीं करते हैं, अपितु हमारे चारों तरफ के वातावरण से प्रभावित होकर बचपन से ही हमारा माइंड 'ऑटोमेटिक' प्रभावित होकर सेट होता रहता है। यह 'ऑटोमेटिक सेट माइंड' ही हमारे दु:खों का कारण बन जाता है। मैं मेरे उस ऑटोमेटिक सेट माइंड को तोड़कर नया अपने अनुकूल माइंड सेट करना चाहती थी, वह रास्ता मिला मुझे समयसार की अमृतचंद्रीय टीका में। अतः उसी कलश का हिंदी अनुवाद मैंने आरंभ में मंगलाचरण के रूप में दिया है। उसमें उन्होंने कहा है मन तो दौड़ेगा 'बाह्य विकल्पों' में। तुम्हें उसे बलपूर्वक मोड़ना है, उसकी दिशा बदलना है। दिशा बदलेगी, तो दशा ऑटोमेटिक बदलेगी।

जी हाँ! यह हमारे हाथ में है कि किन परिस्थितियों में हम क्या निर्णय लें? पर इसके लिए सोच-समझकर हमें अपना 'माइंड सेट' आज से, अभी से बनाना होगा। किन परिस्थितियों में हमारा निर्णय किस आधार पर होगा? - यह हमें सोच-विचार कर, निर्णय कर माइंड सेट करना होगा। अचानक आई घटनाओं पर हमारे निर्णय इसी माइंड सेट के आधार पर होते हैं अर्थात् हमारे जीवन के निर्णय अक्सर हमारे माइंड सेट से गाईड होते हैं।

जैसे मैंने देखा है कि अक्सर माँ-बाप अपने बच्चों के मन में पुलिस, इंजेक्शन आदि का डर बैठा देते हैं। वे बात-बात पर कहते हैं - 'ऐसा करोगे तो पुलिस पकड़ ले जाएगी, डॉक्टर इंजेक्शन लगा देगा'। जो माँ-बाप ऐसा करते हैं, उनके बच्चे पुलिस और डॉक्टर से इतना भयभीत हो जाते हैं कि उनके नाम से ही डरने लगते हैं। इंजेक्शन देखते ही रोने लगते हैं । मेरे बच्चों पर मैंने 'एक्सपेरिमेंट' किया।

मैंने मेरे बेटे आराध्य का माइंड सेट किया कि तुम्हारे शारीरिक कष्टों का इलाज इंजेक्शन है, डॉक्टर है और बाह्य किसी मुसीबत में फँसो तो पुलिस की हेल्प लो।

एक दिन की बात है उसकी किसी बात पर एक सज्जन ने कहा कि तुम ऐसा करोगे तो तुम्हें इंजेक्शन लगवा देंगे। वह खुशी-खुशी बोला - मुझे एक नहीं, दो इंजेक्शन लगवाना। उसका जवाब सुनकर वह भाई अचंभित हो गए! जिस इंजेक्शन के नाम पर वह सब बच्चों को कंट्रोल कर लिया करते थे, आज उनका वह हथियार क्यों और कैसे फेल हो गया? अस्तु! उनकी बात जाने दो, पर मैंने 'माइंड सेट थ्योरी' की गहराई महसूस की; सफलता जानी।

बढ़ती उम्र के इस पड़ाव पर और कोरोना के इस काल में वे अंतिम दिन कभी भी मेरे जीवन में आ सकते हैं। जब मैं कुछ पढ़ नहीं सकती, लिख नहीं सकती; तब मेरे चिंतन-मनन का विषय क्या रहे? उसकी तैयारी है - यह 'मिनी समयसार'।

मैं, मेरा यह उपक्रम मेरे तक ही सीमित रखना चाहती थी; लेकिन मेरे पति श्री अविनाश कुमार टड़ैया मुंबई, मेरी स्टूडेंट सुश्री कविता मेहता मुंबई, डॉ. कविता कासलीवाल हैदराबाद और श्रीमती दीप्ति पाटिल मुंबई के विशेष सहयोग और उपक्रम के कारण यह पुस्तक आज आपके हाथों में है।

डॉक्टर वीरसागरजी जैन के Digital पुस्तक को पढ़कर प्राप्त हुए सुझाव को ध्यान में रखते हुए मैंने शब्दार्थ का क्रम अन्वय के क्रम में दे दिया है। चूंकि अन्वयार्थ में मूल शब्दों का अर्थ अपरिचित पाठकों को पता नहीं चलता, अतः उनके दृष्टिकोण से मूल शब्दों का अर्थ ही मुख्यता से दिया है। प्रसंग के अनुकूल गाथा से संबंधित अन्वयरूप अर्थ कोष्टक में दिया है।

सम्मति के लिए सभी मनीषियों को बहुत-बहुत धन्यवाद।

डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया

महावीर जयंती, 25 अप्रेल-2021

●

आत्मानुभूति

आत्मानुभूति के काल में ज्ञानमात्र का अनुभव करते हुए ज्ञान आनंदसहित पर्याय में अनुभव में आता है ।

ज्ञान की पर्याय में अकेले ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान का अनुभव होना -यह सामान्यज्ञान का आविर्भाव है।

सामान्यज्ञान का आविर्भाव होना, प्रगट होना ही ज्ञान की अनुभूति है, आत्मा की अनुभूति है, ज्ञानानुभूति है, आत्मानुभूति है।

(कानजी स्वामी, गाथा १५ के प्रवचन में)

विषयसूची

	विषय	पृष्ठ
1.	समयसार की जीवन में उपयोगिता	1
2.	समयसार के प्रणेता आ. कुन्दकुन्द	4
3.	समयसार के टीकाकार	10
4.	समयसार की प्रामाणिकता	13
5.	समयसार नाम की सार्थकता	14
6.	समयसार की विशेषता	15
7.	समयसार की विषयवस्तु	21
8.	मिनी समयसार की विषयवस्तु	23
9.	मिनी समयसार	28
10.	गाथा 1	28
11.	गाथा 2	34
12.	गाथा 3	38
13.	गाथा 4	42
14.	गाथा 5	45
15.	गाथा 6	50
16.	गाथा 7	56
17.	गाथा 8	61
18.	गाथा 9	64

विषयसूची

विषय		पृष्ठ
19.	गाथा 10	65
20.	तात्पर्यवृत्ति गाथा 1 /11	69
21.	तात्पर्यवृत्ति गाथा 2 /12	70
22.	गाथा 11/13	72
23.	गाथा 12/14	75
24.	गाथा 13/15	79
25.	गाथा 14/16	82
26.	गाथा 15 /17	88
27.	तात्पर्यवृत्ति गाथा 3/18	92
28.	गाथा 16/19	94
29.	गाथा 17-18/20-21	99
30.	अध्यात्म के नय का सामान्य स्वरूप	102
31.	समयसार में शुद्धात्मा का स्वरूप	114
32.	प्रबुद्ध मनीषियों की दृष्टि में	132
33.	लेखिका की अन्य कृतियाँ	149
34.	लेखिका का परिचय	138

समयसार की जीवन में उपयोगिता

जिसप्रकार भूख लगने पर भोजन और बीमार होने पर डॉक्टर उपयोगी होता है; उसीप्रकार सांसारिक दुःखों से दुःखी होने पर समयसार उपयोगी होता है। चूँकि हम प्रतिसमय-प्रतिपल दुःखी होते रहते हैं, अतः समयसार की उपयोगिता हमारे जीवन में प्रतिपल है; क्योंकि समयसार हमें हमारे सभी दुःखों से मुक्ति का उपाय बतलाता है।

जिसप्रकार डॉक्टर हमारी बीमारी का कारण जानकर हमें दवा लिखकर देता है; उसीप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने हमारे दुःख का कारण जानकर हमें समयसार के रूप में दवा लिखकर दे दी है। जिसप्रकार पर्चा पढ़ने मात्र से हम ठीक नहीं हो जाते, उसीप्रकार समयसार पढ़ने मात्र से हम सुखी नहीं हो जायेंगे। जिसप्रकार जब हम पर्चे पर लिखे अनुसार दवाई को विधिपूर्वक लेते हैं, तो ही हमारी बीमारी दूर होती है; उसीप्रकार जब हम समयसार में लिखी विधि को जीवन में उतारेंगे, अपनायेंगे; तभी हम दुःख दूर करने में, सुखी होने में समर्थ होंगे। अतः प्रत्येक सुखार्थी मानव के जीवन में समयसार उपयोगी है।

यद्यपि जगत के समस्त जीव सुख चाहते हैं, पर सच्चा सुख क्या है? - यह नहीं समझते; अतः कुछ जीव तो कम दुःखों में ही सुख की कल्पना करने लगते हैं। उन काल्पनिक सुखों की चाहत में वे दिन-रात प्रयास करते रहते हैं। किसी जीव को कभी पुण्योदय से मनचाहे भोग-उपभोग सामग्री प्राप्त भी हो जाए, पर फिर भी उन्हें सुख प्राप्त नहीं होता।

संसारी जीवों की मनोदशा विचित्र है। जिन दुःखों में वे सुख की कल्पना भी करते हैं, उन दुःखों को यदि कोई दुःखरूप बताता है, तो उसकी बात उन्हें आसानी से नहीं पचती। कभी-कभी तो वे उसकी बात सुनना तक पसन्द नहीं करते, कदाचित् सुनना भी पड़ जाए तो कुछ जन एक कान से सुनकर दूसरे से निकाल देते हैं और कुछ जन बहस करने लगते हैं; किन्तु कुछ दुःखों को तो सभी प्राणी दुःख ही समझते हैं। जिन्हें सभी प्राणी दूर करना चाहते हैं, वह है - जन्म-मरण का दुःख। इसप्रकार हम कह सकते हैं कि दुःखों से त्रस्त (दुःखी) जीवों को इन दुःखों से मुक्ति का उपाय इस ग्रन्थ में बताया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं भी ग्रन्थ की समाप्ति पर लिखते हैं कि 'जो व्यक्ति इस समयसार में प्रतिपादित शुद्धात्मा के स्वरूप को जानकर, उस में स्थित होता है; वह सच्चा सुख प्राप्त करता है, अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करता है।' अतः यह ग्रन्थ प्रत्येक सुखार्थी के लिये उपयोगी है।

इस ग्रन्थ की टीका लिखने का उद्देश्य बताते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी परमविशुद्धि की कामना की है। प्रकारान्तर से वे हमसे कहना चाहते हैं कि यह ग्रन्थ शुभ-अशुभ भावों में झूलते गृहस्थों, श्रावकों को तो उपयोगी है ही; पर शुद्ध-शुभ भावों में झूलते मुनिराजों के लिए भी उपयोगी है। यह श्रावकों को विशुद्धि का और मुनिराजों को परमविशुद्धि का कारण है। अतः यदि तुम भी (जो जिस भूमिका में है, वे सभी) अपने परिणामों की विशुद्धि, परमविशुद्धि चाहते हो तो इस ग्रन्थ को स्वयं पढ़ो, अन्य को पढ़ाओ और अपने उपयोग को अन्य स्थल पर भटकने से बचाओ।

उनका मानना है कि 'जगत में इससे महान कुछ नहीं है। यह जगत का अद्वितीय अक्षय चक्षु है।' संपूर्ण जगत इस समयसाररूपी अनुपम आँखों के द्वारा शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन, अवलोकन, ज्ञान-श्रद्धान कर सांसारिक दुःखों से मुक्ति की ओर बढ़ सकता है।

संक्षेप में कहें तो शुद्धात्मा के प्रतिपादक इस शास्त्र में लाखों शास्त्रों का सार भरा है। अतः आचार्य कुन्दकुन्द की सर्वोत्कृष्ट कृति समयसार सम्पूर्ण 'जिनागम' का सिरमौर है।

●

गाथा- 415 का हिंदी अनुवाद-

पढ़ समयप्राभृत ग्रंथ यह तत्वार्थ से जो जानकर।
निज अर्थ में एकाग्र हों वे परम सुख को प्राप्त हों।।

समयसार कलश 244

अधिक कहने से क्या लाभ है? और अधिक दूर्विकल्प करने से भी क्या लाभ है? यहाँ तो मात्र इतना कहना ही पर्याप्त है कि इस एक परमार्थ स्वरूप आत्मा का ही नित्य अनुभव करो। निजरस के प्रसार से परिपूर्ण ज्ञान के स्फुरायमान होने रूप समयसार से महान इस जगत में कुछ भी नहीं है।

समयसार कलश 245

आनंदमय विज्ञानघन शुद्धात्मारूप समयसार को प्रत्यक्ष करता हुआ यह एक अद्वितीय जगत चक्षु समयसार नामक ग्रंथाधिराज पूर्णता को प्राप्त हो रहा है।

समयसार के प्रणेता आचार्य कुन्दकुन्द

जैन आचार्य परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द सर्वोपरि हैं, सिरमौर हैं। प्रत्येक जैनाचार्य, मुनिराज एवं विद्वत्वर्ग स्वाध्याय आरंभ करने के पूर्व भगवान महावीर और गौतम गणधर के साथ मंगलाचरण के रूप में प्रतिदिन आपका स्मरण करते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रभाव एवं कार्य से जैनसमाज जितना परिचित और उपकृत है, उनके जीवन-विवरण से उतना ही अपरिचित ।

आपने अपनी अमूल्य कृतियों में कहीं भी ऐसा कुछ नहीं लिखा, जो आपके जीवनवृत्त पर प्रकाश डालता हो। अपने में ही मग्न रहनेवाले निस्पृही सन्तों का स्वभाव कुछ ऐसा ही होता है कि जगतजन के हितार्थ करुणाविगलित हो जहाँ वे हजारों पृष्ठ लिख देने पर भी संतुष्ट नहीं होते, वहाँ अपने जीवन के संदर्भ में एक शब्द भी लिखने का भाव उन्हें नहीं आता।

ऐतिहासिक लेखों, शिलालेखों, प्रशस्तिपत्रों, परम्परागत कथाओं एवं परवर्ती ग्रन्थकारों के उल्लेखों के आधार पर उनके जीवन के संबंध में हमें निम्न जानकारी मिलती है -

आपका जन्म माघ सुदी पंचमी (वसंत पंचमी) को हुआ था। महज़ ११ वर्ष आप गृहस्थ अवस्था में रहे। अपने जन्मदिन पर ही आपने दीक्षा ली। ३३ वर्ष पश्चात् वसंत पंचमी के दिन ही आप ४४ वर्ष की अवस्था में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। वे ५१ वर्ष १० माह १५ दिन इस पद पर विराजमान रहे। इस प्रकार आपने ९५ वर्ष १० माह १५ दिन की दीर्घायु पाई थी।

मुनिदीक्षा लेने के पूर्व उनका नाम क्या था – अभी तक यह अज्ञात ही है। इस संबंध में न तो उन्होंने स्वयं कोई उल्लेख किया और न अन्य उल्लेख प्राप्त होते हैं। उनके उपलब्ध नाम इसप्रकार हैं –

नन्दिसंघ में दीक्षित होते समय आपका नाम पद्मनन्दी रखा गया था। कालान्तर में यही **पद्मनन्दी** आचार्य **कुन्दकुन्दाचार्य** नाम से प्रसिद्ध हुये हैं।

इस नाम की प्रसिद्धि के मूल में दो कारण रहे हैं :

१. दक्षिण भारत में व्यक्ति के नाम के प्रारम्भ में ग्राम का नाम लिखने का प्रचलन है।

२. पूज्य पुरुषों का नाम लेने में भारतीय समाज में सहज संकोचवृत्ति होने से भारतीय जनता महापुरुषों को ग्रामादिक के नाम से या अन्य उपाधियों से संबोधित करती रही है। भारतीय जैन समाज के श्रद्धास्पद आचार्य पद्मनंदी कोण्डकुन्दपुर के वासी होने से कुन्दकुन्दाचार्य नाम से विश्रुत हो गये।

‘कोण्डकुन्दपुर के आचार्य’ – यह अर्थ रखने वाले इस नाम में ‘आचार्य’ पद नाम का ही अंग है।

उक्त नामों के अतिरिक्त विदेह क्षेत्र की घटना से संबंधित इनके तीन अन्य नामों का उल्लेख एवं तत्संबंधी घटनाओं का उल्लेख भी मिलता है।

जब कुन्दकुन्दाचार्य विदेह क्षेत्र गये तो मार्ग में उनकी मयूरपिच्छिका गिर गई, तब उन्होंने गृद्ध के पंखों की पिच्छिका से काम चलाया। इसी घटना से उनका **गृद्धपिच्छाचार्य** नाम प्रसिद्ध हुआ।

सीमन्धर स्वामी के समवसरण में पूर्वविदेह के चक्रवर्ती सम्राट ने इन्हें मुनियों में सबसे छोटा देखकर **एलाचार्य** (छोटा आचार्य) नाम से नमस्कार किया।

विदेह क्षेत्र से आने पर आचार्य महोदय सिद्धान्त के अध्ययन में इतने तन्मय हो गये कि उन्हें अपने शरीर का भान नहीं रहा। अथक परिश्रम करते हुये उन्हें समय का भी कुछ ध्यान नहीं रहा। गर्दन झुकाये हुये वे अपने अध्ययन में इतने व्यस्त रहे कि उनकी गर्दन टेढ़ी पड़ गई और लोग उन्हें **'वक्रग्रीव'** नाम से पुकारने लगे। जब उन्हें अपनी इस अवस्था का भान हुआ, तब योगसाधना द्वारा उन्होंने अपनी ग्रीवा ठीक कर ली।

इसप्रकार हम देखते हैं कि उनका मूल नाम पद्मनन्दी है और सर्वाधिक प्रयोग आनेवाला प्रसिद्ध नाम कुन्दकुन्दाचार्य है।

उनके नाम से जो 'अन्वय' या 'आम्नाय' चले, वे भी 'कुन्दकुन्दान्वय' या 'कुन्दकुन्दाम्नाय' ही कहे जाते हैं। उपलब्ध दिगम्बर जिन प्रतिमाओं में से अधिकांश में उक्त 'अन्वय' या 'आम्नाय' का उल्लेख अवश्य पाया जाता है।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट ही है कि आचार्य कुन्दकुन्द का जन्मस्थान **कौण्डकुन्दपुर** था।

आज भी गुण्टकल रेलवे स्टेशन से दक्षिण की ओर लगभग ५ मील पर 'कोनकोण्डल' नाम का स्थान है, जो अनन्तपुर जिले के गुटी तालुके में स्थित है।

कन्नड़ में 'कुण्ड' और 'कौण्ड' शब्द का अर्थ पहाड़ी होता है, किन्तु जब ये शब्द किसी स्थान के साथ संबद्ध होते हैं तो उनका अर्थ होता है– पहाड़ी या उसके निकट बसा हुआ स्थान।

उक्त अर्थ प्रकृत स्थान के साथ पूरा घटित होता है। वर्तमान में भी यह स्थान एक पहाड़ी के बिल्कुल निकट है।

'पोन्नूर' नामक ग्राम में आपने तप किया था। वहीं से विदेहक्षेत्र गये थे एवं समयसारादि ग्रन्थराजों की रचना भी वहीं की थी।

पोन्नूर का अर्थ होता है–सोना, अतः इसे 'हेमग्राम' भी कहते हैं। यह मद्रास प्रेसीडेन्सी के मलयप्रदेश में स्थित है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि इनकी जन्मभूमि 'कौण्डकुन्दपुर' और तपोभूमि 'पोन्नूर' है। (पोन्नूर–उत्तर आर्काड़ जिला – तमिलनाडु)

आपने स्वयं बोधपाहुड की ६१- ६२ वीं गाथाओं में **श्रुतकेवली भद्रबाहु** को **गमकगुरु** के रूप में स्मरण किया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे उनके साक्षात् गुरु नहीं थे । यदि साक्षात् गुरु होते तो 'गमकगुरु' कहने का कोई प्रयोजन नहीं रहता । अतः यही संभावना अधिक है कि वे उनके परंपरागत गुरु थे अर्थात् कुन्दकुन्द श्रुतकेवली भद्रबाहु की परंपरा में दीक्षित हुये थे और उन्हीं की परंपरा का बोध उन्हें प्राप्त हुआ था।

श्रुत अर्थात् सुनना। **श्रुतपरम्परा** अर्थात् सुनने की परम्परा। पूर्व काल में जब शास्त्र लिपिबद्ध (लिखे हुए) नहीं थे, तब एक दूसरे से सुनकर, यादकर ही तत्वज्ञान को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाया जाता था। यह परम्परा प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ से चौबीसवें तीर्थंकर महावीर तक और उनके पश्चात् केवली, श्रुतकेवलियों द्वारा होती हुई आचार्य कुन्दकुन्द तक श्रुतपरम्परा से ही पहुँची।

चूँकि आचार्य कुन्दकुन्द ने अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु की परम्परा से आए हुए ज्ञान को ही लिपिबद्ध किया है, अतः आचार्य कुन्दकुन्द ने भद्रबाहु श्रुतकेवली का गमकगुरु (परम्परा गुरू) के रूप में उल्लेख किया है।

आपके साक्षात् गुरु के संदर्भ में दो नाम सामने आते हैं:१. कुमारनन्दी, और २. जिनचन्द्र

जहाँ एक ओर जयसेनाचार्य ने पंचास्तिकाय की टीका में 'कुमारनन्दी सिद्धान्तदेव' को कुन्दकुन्द के गुरु के रूप में स्मरण किया है तो दूसरी ओर नन्दिसंघ की पट्टावली में जिनचन्द्र नाम मिलता है। पट्टावली में समागत कुन्दकुन्दाचार्य की गुरुपरम्परा इसप्रकार है -

भद्रबाहु > गुप्तिगुप्त > माघनन्दी > जिनचन्द्र > कुन्दकुन्द।

संभव है कि **कुमारनन्दी** और **जिनचन्द्र** एक ही व्यक्ति रहे हों। नन्दीसंघ में दीक्षित होते समय उनका नाम कुमारनन्दी तथा प्राचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने पर आप जिनचन्द्र नाम से प्रतिष्ठित हुये हों। चूँकि नन्दिसंघ की पट्टावली में आचार्यों की गुरुपरंपरा बताई है, अत: उन्होंने जिनचन्द्र नाम देना उचित समझा हो।

आचार्य कुन्दकुन्द के सशरीर विदेह गमन संबंधी एवं जीवन से संबंधित कुछ कथाओं का उल्लेख भी मिलता है। जिनकी विस्तृत जानकारी लेखिका की अन्य कृति ''आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार: एक समालोचनात्मक अध्ययन'' में दी गई है।

आपके परवर्ती ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों के प्रणयन में आपके ग्रन्थों की विषयवस्तु को आधार बनाया है, साथ ही वे अपने ग्रन्थों की प्रामाणिकता के लिए आपके पद्यों को उद्धृत करते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द के पूर्व अध्यात्म की धारा श्रुतपरम्परा से चली आ रही थी। इस परम्परा को सर्वप्रथम लिखित रूप आपने दिया। अत: आपके उपलब्ध ग्रन्थों में समस्त जिनागम का सार समाहित हो गया है।

आप धर्म में शिथिलाचार का दृढ़ता से निषेध करते हैं। शिथिलाचार के विरुद्ध लेखन में आपकी लेखनी कठोर हो गयी है। आपके द्वारा लिखित अष्टपाहुड़ में मुनि आचार में आने वाली शिथिलता का प्रत्येक दृष्टिकोण से विचार कर जोरदार खण्डन किया गया है।

आप ईसा पूर्व प्रथम शती के उत्तरार्द्ध एवं ईसा पश्चात् प्रथम शती के पूर्वार्द्ध में भारत भूमि को अलंकृत कर रहे थे।

कहा जाता है कि आपने चौरासी पाहुड़ लिखे थे, किन्तु आज उनके द्वारा लिखित निम्न ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं –

(1) समयसार (2) प्रवचनसार (3) नियमसार (4) पंचास्तिकाय संग्रह (5) अष्टपाहुड़। अष्टपाहुड़ में निम्नलिखित 8 पाहुड़ संग्रहीत हैं–

(1) दंसण पाहुड़ (2) सूत्र पाहुड़ (3) चारित्र पाहुड़ (4) बोध पाहुड़ (5) भाव पाहुड़ (6) मोक्ख पाहुड़ (7) लिंग पाहुड़ (8) शील पाहुड़।

परवर्ती उल्लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि आपने षटखंडागम के प्रथम तीन खंडों पर 'परिकर्म' नामक टीका लिखी थी, किंतु वह आज उपलब्ध नहीं है।

●

समयसार के टीकाकार

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय संग्रह के मुख्य संस्कृत टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र और आचार्य जयसेन हैं तथा नियमसार के टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र

आचार्य अमृतचन्द्र १०वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए आचार्य अमृतचन्द्र गहन तत्वचिंतक, अनेक मौलिक ग्रन्थों के प्रणेता, समर्थ टीकाकार, आत्मानुभवी संत थे। आपके जीवन के बारे में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है।

आचार्य कुन्दकुन्द के गंभीरतम ग्रन्थराज समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय संग्रह पर आपने आत्मख्याति, तत्वदीपिका, समयव्याख्या नामक सशक्त टीकायें लिखी हैं; जो आज इन पर उपलब्ध समस्त टीका-ग्रन्थों में सर्वाधिक प्रचलित एवं सर्वश्रेष्ठ हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र के पूर्व हजार वर्षों तक आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर कोई टीका न लिखी गई हो, यह संभव प्रतीत नहीं होता। आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीकाओं की प्रौढ़ता के सामने वे टिक न सकीं और स्वयं ही काल-कवलित हो गई हों - यही संभावना प्रतीत होती है।

समयसार की टीका आत्मख्याति को पढ़कर ऐसा लगता है कि मानो पुण्य-पापादि नौ पदार्थ हमारे सामने जीवंत खड़े हों। पुण्य-पापादि अमूर्त पदार्थों में मूर्त पात्र की कल्पना आचार्य अमृतचन्द्र की मौलिक विशेषता है।

विषयवस्तु को संक्षेप में बताने के लिए, महत्वपूर्ण विषय को स्मृति में रखने के लिए आपने गद्य के साथ-साथ पद्य का प्रयोग भी भरपूर किया है। ये पद्य 'कलश' कहलाते हैं। वे पद्य वास्तव में मंदिर पर बनाए कलश के समान महत्वपूर्ण हैं।

आपके द्वारा लिखित मंगलाचरण के आरंभिक ३ कलश संपूर्ण समयसार की विषयवस्तु को दर्शानेवाले कलश हैं।

प्रथम कलश में 'नमः समयसाराय' कहकर ही समयसार के महत्व को भी दर्शा दिया है। वस्तुत: तो इसी एक कलश में संपूर्ण समयसार का सार आ गया है।

आचार्य जयसेन

१२वीं शती के उत्तरार्द्ध में हुए आचार्य जयसेन के जीवन के बारे में प्रवचनसार की टीका के अंत में आठ पद्यों की प्रशस्ति में कुछ जानकारी उपलब्ध होती है। वे मूलसंघ के विद्वान आचार्य वीरसेन के प्रशिष्य और सोमसेन के शिष्य थे। आपके बाल्यकाल का नाम चारुभट था, दिगंबर मुनि होने पर आपका नाम जयसेन हो गया। आचार्य जयसेन ने अपने गुरुओं से सर्व ज्ञान प्राप्त किया था। पिता की इच्छा का पालन करते हुए आपने 'प्राभृत' नामक ग्रन्थ की टीका की है।

जिन-अध्यात्म के आप विशेष ज्ञाता थे और संस्कृत भाषा पर आपका पूर्ण अधिकार था। न केवल संस्कृत भाषा पर ही, अपितु प्राकृत और उसके व्याकरण पर भी आपकी पकड़ मजबूत थी। प्राकृत गाथाओं में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों की व्याख्यायें अपवाद नियमों-सहित आप आवश्कतानुसार यथास्थान करते

चले गये हैं। पाठकों को सरलतापूर्वक ज्ञान हो सके, इसलिए उन्होंने अपनी टीकाओं में प्राय: पदों की संधि नहीं की है और वाक्य भी भिन्न-भिन्न रखे हैं।

समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय संग्रह पर आचार्य अमृतचन्द्र जैसे समर्थ आचार्य की सशक्त टीकाओं की उपस्थिति में इन्हीं ग्रन्थों पर स्वतंत्र टीकायें लिखकर आचार्य जयसेन ने सचमुच अद्भुत साहस का परिचय दिया है। अमृतचन्द्राचार्य की मान मर्यादा एवं स्थापनाओं को संपूर्णतः सुरक्षित रखकर सरल भाषा में बहुत कुछ नया प्रमेय (विषय) भी उपस्थित किया है। सरलता के साथ गुणस्थान परिपाटी से लिखा जाना भी आचार्य जयसेन की टीकाओं की एक ऐसी विशेषता है, जो आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाओं में उपलब्ध नहीं है। इन्हीं विशेषताओं के बल पर ही ये टीकायें आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाओं के होने पर भी टिकी रह सकी हैं। आपकी तीनों ही टीकाओं का नाम 'तात्पर्यवृत्ति' है।

●

आनंद! अनिन्द्रिय आनंद ! अनंत आनंद!!

पहली नजर में देखें तो आनंद, अनिन्द्रिय आनंद, और अनंत आनंद यह सभी पर्यायवाची से ही लगते हैं; पर यदि सूक्ष्मता से विचार करें तो इनमें भेद है, काफी गहरा भेद है। न केवल क्वांटिटी (Quantity) भेद है, अपितु क्वालिटी (Quality) भेद भी है।

उक्त शीर्षक में क्वांटिटी (Quantity) भेद के साथ-साथ क्वालिटी (Quality) भेद की ओर भी इशारा किया गया है।

तो आईये दृष्टिपात करते है, आनंद की क्वालिटी (Quality) पर।

(To be continued on page no. 13)

समयसार की प्रामाणिकता

प्रस्तुत कृति लेखक की स्वयं की कल्पना नहीं, अपितु केवली एवं श्रुतकेवली कथित तत्त्व को प्रस्तुत करने वाली है। इस संदर्भ में ग्रन्थकर्ता आचार्य स्वयं लिखते हैं – 'मैं श्रुतकेवली द्वारा कहा गया समयसार नामक प्राभृत को कहूँगा।'

जैसे – आजकल कुछ सीरियल, सिनेमा या कहानियों में स्पष्ट लिखा होता है कि – 'यह सब सत्य घटना पर आधारित है, काल्पनिक नहीं'; वैसे ही आचार्यदेव श्रुतकेवली कथित कहकर ग्रन्थ की प्रामाणिकता स्पष्ट करना चाहते हैं। उनका कहना है कि मैं इस ग्रन्थ में काल्पनिक कुछ नहीं कहूँगा; जो कुछ भी कहूँगा, वह सब वस्तु स्वरूप को सही प्रकाशित करने वाला भगवान की दिव्यध्वनि का ही अंश होगा।

●

अंतर आनंद की क्वालिटी का

पहला आनंद सांसारिक आनंद के लिए प्रयुक्त किया गया है। जो इंद्रियों से प्राप्त होने के कारण इंद्रिय आनंद भी कहलाता है। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव की ही पाँचों इन्द्रियों के विषय भोगों में सुख बुद्धि होती है।

दूसरा अनिन्द्रिय आनंद और तीसरा अनंत आनंद ये दोनों ही पारमार्थिक आनंद हैं। दोनों ही इंद्रियों की सहायता से न होने के कारण अतीन्द्रिय कहलाते हैं। दूसरा आनंद मनजनित होने के कारण अनिन्द्रिय भी कहलाता है और जिस आनंद का कभी अंत नहीं होता ऐसा आनंद अतीन्द्रिय आनंद कहलाता है। ज्ञानी जीवों की पंचेन्द्रियों के विषय भोगों में सुख बुद्धि नहीं होती।

इसप्रकार सांसारिक इन्द्रिय आनंद और पारमार्थिक अतीन्द्रिय आनंद –दोनों की क्वालिटी में जमीन आसमान का अंतर है। अब हम आनंद की क्वांटिटी के अंतर को जानेंगे।

(To be continued on page no.20)

समयसार नाम की सार्थकता

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्राकृत भाषा में रचित ग्रन्थ का मूल नाम 'समय पाहुड़' है। इसे ही संस्कृत में 'समय प्राभृत' और हिंदी में 'समयसार' कहा जाता है। वर्तमान में इसका प्रचलित नाम समयसार ही है। अत: मैंने भी इसी नाम को अपनाया है।

समय शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, जैसे – काल, देश, क्षेत्र, युद्ध, मत, शास्त्र, छः द्रव्य, आत्मा आदि। समयसार में यह शब्द 'आत्मा' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

समय के साथ सार लग जाने से समयसार का अर्थ 'शुद्धात्मा' होता है। तात्पर्य यह है कि बाह्य संयोग और संयोगी भावों से अथवा नोकर्म, द्रव्यकर्म, भावकर्म से भिन्न बताने के लिए ही 'समय' के साथ 'सार' शब्द जोड़ा गया है। इसप्रकार ग्रन्थ की विषयवस्तु को सूचित करने वाले इस ग्रन्थ का 'समयसार' नाम सार्थक है।

●

समय शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'अय' धातु से बना है। 'अय' का अर्थ गमन भी होता है और ज्ञान भी होता है। 'सम्' का अर्थ 'एकसाथ' होता है। इसप्रकार जिस वस्तु में एक ही काल में जानना और परिणमन करना – ये दोनों क्रियायें पाई जावें, वह ही समय है। चूंकि जीव प्रतिसमय जानता भी है और परिणमन भी करता है; अत: जीव नामक पदार्थ ही समय है।

समयसार की विशेषता

समयसार में सम्यग्दृष्टि मुनिराज–श्रावक, मिथ्यादृष्टि मुनिराज –श्रावक, विस्तार रुचि–संक्षिप्त रुचि, तीक्ष्ण प्रज्ञा के धनी–मंदबुद्धि आदि सभी व्यक्तियों के स्तर के अनुकूल विषयवस्तु का चयन और प्रस्तुतीकरण किया गया है– यही समयसार की सबसे बड़ी विशेषता है।

जैसा कि हम जानते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द की दैनिक सभा में शुद्धोपयोगी मुनिराज भी विराजते थे और आम जनता भी। आचार्य अकलंकदेव के समान स्मृति (याददाश्त) और तीक्ष्ण प्रज्ञा के धनी आसन्नभव्य, बुद्धिमान, संक्षेप में इशारों में समझनेवाले विद्वान श्रोता भी थे और आराम से धीरे–धीरे समझनेवाले बाल–गोपाल समान श्रोता भी।

उक्त सभी श्रोता एवं पाठक श्रुतपरम्परा के अभ्यस्त (habitual) थे; क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द के पूर्व तत्वज्ञान की धारा श्रुतपरम्परा से ही चली आ रही थी। इसलिए समयसार में सभी स्तर के श्रोताओं और पाठकों की दृष्टि से विषयवस्तु प्रस्तुत की गयी है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी सभा में उपस्थित सभी श्रोताओं की क्षमताओं को ध्यान में रखते हुए सम्पूर्ण समयसार की विषयवस्तु को अनेक स्तरों में विभाजित किया है।

इसप्रकार श्रोताओं, पाठकों के स्तर की भिन्नता के अनुसार समयसार में स्थल–स्थल पर अनेक पड़ाव (विश्राम स्थल) हैं; ताकि जो जिस योग्य होगा, वह उतनी गाथाओं से शुद्धात्मा का स्वरूप समझकर आत्मकल्याण की ओर कदम बढ़ा सके।

जैसे – प्रथम पड़ाव में उन्होंने शुभोपयोग की ओर तेजी से आकर्षित होते हुए मेधावी मुनिराज, श्रोताओं को शुद्धोपयोग को उपादेय और शुभोपयोग को हेय बताकर, शुद्धोपयोग के लिए ही सदा प्रयत्नशील रहने का संदेश दे दिया है। यह पहला पड़ाव तीसरी गाथा पर आता है।

दूसरा पड़ाव छठवीं गाथा पर आता है; क्योंकि जिस शुद्धात्मा का स्वरूप बताने की उन्होंने प्रतिज्ञा की थी, उसका स्वरूप उन्होंने इस गाथा में बता दिया है। कुछ बुद्धिमान जीव तो इतने से ही शुद्धात्मा का स्वरूप समझकर, उसमें स्थित होकर आत्मकल्याण की ओर अपना कदम बढ़ा सकते हैं।

इन पड़ावों की चर्चा तत्संबंधित गाथा की व्याख्या में विशेषरूप से की जायेगी।

उदाहरण के रूप में भी सिद्धान्त को समझाना आपकी अपनी विशेषता है। जैसे – निश्चय-व्यवहार के उदाहरण के रूप में व्यवहारश्रुतकेवली व निश्चयश्रुतकेवली का स्वरूप बता दिया है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने विषय को तीन प्रकार से समझाया है –

(१) नाममात्र कथन (२) सामान्य कथन (३) विशेष कथन

नाममात्र कथन द्वारा पाठकों में विषय को जानने की उत्सुकता उत्पन्न होती है। **सामान्य कथन** से स्वरूप जानने के बाद विषय विस्तार से समझने की जिज्ञासा जागृत होती है। **विशेष कथन** से विषय को गहराई से जानने-समझने के बाद ही श्रद्धान होता है।

शास्त्रों में कहा भी जाता है कि – 'सामान्य शास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्।' अर्थात् सामान्य शास्त्र से विशेष बलवान होता है। विशेष से अच्छी तरह निर्णय होता है। ज्यों-ज्यों विशेष जानते हैं, त्यों-त्यों वस्तु स्वभाव निर्मल भासित होता है, श्रद्धान दृढ़ होता है।

किसी विषय को जानने के बाद उसके श्रद्धान से ही वह जीवन में उतरता है, आचरण में आता है। जैसे- जब हमें कोरोना वायरस से होने वाली कोविड महामारी का सामान्य ज्ञान था, तब उससे बचने के उपाय हमारे दैनिक आचरण में नहीं उतर रहे थे; किंतु जब उससे संबंधित विशेष जानकारी हुई, तब उनसे बचने के उपायों पर श्रद्धान हुआ और वे उपाय धीरे-धीरे हमारे आचरण में आने लगे, जीवन के अंग बनने लगे।

आचार्य कुन्दकुन्द मानवों की इस वृति से अच्छी तरह परिचित थे। अतः उन्होंने संपूर्ण समयसार में इस शैली को अपनाया है। उदाहरण के तौर पर पहली गाथा में 'समय प्राभृत' कहकर समयसार रूप शुद्धात्मा का 'नाममात्र कथन' कर शुद्धात्मा के बारे में जानने की उत्सुकता उत्पन्न की। दूसरी गाथा में 'शुद्धात्मा' का 'सामान्य स्वरूप' और आगामी गाथाओं में उसका 'विशेष स्वरूप' बताया गया है।

इसीप्रकार दूसरी गाथा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र का 'नाममात्र कथन' है, ७वीं गाथा में 'सामान्य कथन' और १६वीं गाथा में 'विशेष कथन' कर उसकी उपादेयता पर प्रकाश डाला है।

इसी क्रम से ७वीं, ८वीं, ९वीं, १०वीं गाथाओं में निश्चयनय और व्यवहारनय का कथन किया गया है। इस विशेषता से संबंधित २१ गाथाओं की सम्पूर्ण जानकारी निम्न प्रकार है-

पहली गाथा में समयसार (शुद्धात्मा) का स्वरूप कहने की प्रतिज्ञा कर शुद्धात्मा का नाममात्र कथन किया गया है।

दूसरी गाथा में स्वसमय (शुद्धात्मा) और परसमय (अशुद्धात्मा) का सामान्य स्वरूप बताया गया है। इस गाथा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र का नाममात्र कथन है।

तीसरी गाथा में स्वसमय को उपादेय और परसमय को हेय बताकर दोनों का विशेष कथन संक्षेप में किया गया है। इसके पश्चात् स्वसमय- परसमय का विशेष कथन विस्तार से किया जा रहा है ।

चौथी गाथा में स्वसमय की दुर्लभता और परसमय की सुलभता का वर्णन किया है।

पाँचवी गाथा में दुर्लभ स्वसमय के स्वरूप को विस्तार से बतलाकर उसे सुलभ बनाने की प्रतिज्ञा को दोहराया गया है। इसप्रकार आरंभ की पाँच गाथाएँ भूमिकारूप हैं।

छठवीं गाथा में स्वसमय के सामान्य स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

सातवीं गाथा में निश्चयनय और व्यवहारनय के माध्यम से वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। इस गाथा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र का सामान्य कथन; स्वसमय का विस्तार से विशेष कथन और नय का नाममात्र कथन है।

आठवीं गाथा में नयों के सामान्य कथनपूर्वक व्यवहारनय की उपयोगिता बताई गई है।

नौवीं गाथा में निश्चयनय का विशेष कथन और शुद्धात्मा को जाननेवाले श्रुतकेवली का सामान्य कथन है।

दसवीं गाथा में शुद्धात्मा के जाननेवाले श्रुतकेवली का विशेष कथन किया है।

इसके पश्चात् आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में दो गाथाएँ उपलब्ध हैं।

तात्पर्यवृत्ति की पहली गाथा में शुद्धात्मा को जानने की प्रेरणा दी गयी है, आज्ञा दी गयी है।

तात्पर्यवृत्ति की दूसरी गाथा में शुद्धात्मा को जानने का फल बतलाया है।

११वीं गाथा में नयों का विशेष कथन करते हुए निश्चयनय की भूतार्थता और व्यवहारनय की अभूतार्थता पर प्रकाश डाला है।

१२वीं गाथा में निश्चयनय और व्यवहारनय की भूतार्थता पर प्रकाश डाला गया है।

तेरहवीं गाथा में नयों का प्रयोग करते हुए सम्यग्दर्शन का सामान्य स्वरूप बताया गया है।

चौदहवीं गाथा में शुद्धनय और शुद्धात्मा का सामान्य स्वरूप समझाया है।

पंद्रहवीं गाथा में शुद्धात्मा के स्वरूप को जाननेवाले को सम्पूर्ण जिनशासन का जाननेवाला कहकर शुद्धात्मा को जाननेवाले सम्यग्दृष्टि का सामान्य कथन किया गया है।

तात्पर्यवृत्ति की तीसरी गाथा में सम्यग्दृष्टि का विशेष कथन किया गया है।

सोलहवीं गाथा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र के सदा सेवन की प्रेरणा दी गयी है और उन तीनों को निश्चयनय से एक आत्मा ही कहा गया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि पहली गाथा में जिस शुद्धात्मा का वर्णन करने की प्रतिज्ञा की गयी थी, उसी शुद्धात्मा में लीन रहने की प्रेरणा देकर सम्यग्दर्शन का विशेष कथन किया गया है। **तात्पर्यवृत्ति की २०वीं, २१वीं** और **आत्मख्याति** की **१७वीं** और **१८वीं** गाथाओं में शुद्धात्मा में लीन रहने की प्रेरणा की ही पुष्टि लौकिक उदाहरण के द्वारा देकर विशेष कथन को दृढ़ किया गया है।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थ में वही विषय सिलसिलेवार क्रमशः वर्णित किए हैं, जिनके समझे बिना मूल विषय समझ में नहीं आ सकता। जिस विषय को समझने के लिए जिस-जिस ज्ञान की जितनी-जितनी अनिवार्य आवश्यकता है, उस-उस विषय को वे आगामी गाथाओं में स्पष्ट (clear) करते चले गये हैं। जैसे - शुद्धात्मा के स्वरूप को समझने के लिए नयों का ज्ञान आवश्यक है; क्योंकि उसके बिना वस्तु का सही स्वरूप समझ में नहीं आ सकता है। अतः शुद्धात्मा का स्वरूप विस्तार से समझाने के पहले नयों की आवश्यकता और उपयोगिता पर भी प्रकाश डाला है।

आचार्य कुन्दकुन्द की इसी शैली के दर्शन पूरे समयसार में होते हैं। जिनकी चर्चा तत्संबंधित गाथाओं में यथास्थान की जाएगी।

●

अंतर आनंद की क्वांटिटी का

दूसरा अनिन्द्रिय आनंद ज्ञानी सम्यक् दृष्टि के आनंद के लिए और तीसरा अनंत- आनंद केवलज्ञानी के आनंद के लिए प्रयुक्त किया गया है।

सम्यक् दर्शन का आनंद वास्तविक आनंद का आरंभ है और केवलज्ञान उसी आनंद की परिपूर्णता की स्थिति है।

(To be continued on page no.27)

समयसार की विषयवस्तु

समयसार के मूल प्रतिपाद्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं कहते हैं कि - 'एकत्व-विभक्त आत्मा को मैं अपने स्व-वैभव से दिखाता हूँ।'

एकत्व = अपने में अभेद, अनन्त गुणों का अखण्डपिण्ड, असंख्यात प्रदेशों का अखण्डपिण्ड। विभक्त = द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रहित आत्मा। इस प्रकार अपने गुणों से अभिन्न और समस्त पर से भिन्न आत्मा ही एकत्व-विभक्त आत्मा है।

संक्षेप में कहें तो समयसार की मूल विषयवस्तु वह आत्म स्वभाव है, जिसके आश्रय से मुक्ति का मार्ग आरंभ होता है। उस दुर्लभ शुद्धात्मस्वभाव को सारे जगत के लिये सुलभ करना समयसार का उद्देश्य है, अतः समयसार का प्रतिपादन केंद्र बिंदु 'शुद्धात्मा' है। जैसे समयसार की आरंभ की ५ गाथाओं में से:-

प्रथम गाथा में शुद्धात्मा का स्वरूप समझाने की प्रतिज्ञा की गई है।

दूसरी गाथा में स्वसमयरूप शुद्धात्मा और परसमयरूप अशुद्धात्मा का स्वरूप बतलाया गया है।

तीसरी गाथा में शुद्धात्मा को उपादेय और अशुद्धात्मा को हेय बताकर इन दोनों में स्थित होने का फल बता दिया गया है।

चौथी गाथा में स्वसमयरूप शुद्धात्मा की दुर्लभता और परसमयरूप अशुद्धात्मा की सुलभता बताई गयी है।

पाँचवीं गाथा में दुर्लभ शुद्धात्मा के स्वरूप को इस ग्रन्थ में विस्तार से समझाकर सुलभ करने के अपने निर्णय को पुनः दोहराया गया है।

चूँकि शुद्धात्मा को सभी को जानना चाहिए, पहचानना चाहिए और उसमें जमने-रमने का प्रयास करना चाहिए; इसलिए इस ग्रन्थ में शुद्धात्मा के सभी रूपों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

●

पंचास्तिकायसंग्रह में 'समय' के तीन भेद किए गए हैं - (१) शब्द समय (२) अर्थ समय (३) ज्ञान समय पंचास्तिकायसंग्रह के मंगलाचरण में 'समय'; द्रव्य, आगम, जिनवाणी अथवा शास्त्र अर्थ में प्रयुक्त है। इसे ही **शब्द समय** कहा है। इस ग्रन्थ में जो पाँच अस्तिकाय और छः द्रव्यों का वर्णन है, उसे अर्थ समय कहा है। इसप्रकार पाँच अस्तिकाय और छः द्रव्य मिलाकर सम्पूर्ण लोक ही 'अर्थ समय' में शामिल हो गया है। **'ज्ञान समय'** की प्रसिद्धि के लिए ही 'अर्थ समय' का वर्णन पंचास्तिकायसंग्रह ग्रन्थ में किया गया है। उसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए आचार्य कुन्दकुन्द इस समयसार ग्रन्थ में ज्ञान समय का वर्णन विस्तार से कर रहे हैं। संक्षेप में कहें तो पंचास्तिकायसंग्रह में 'समय' (छः द्रव्य) का और समयपाहुड़ में 'समयसार' (शुद्धात्मा) का वर्णन किया गया है।

‘मिनी समयसार’ की विषयवस्तु

आचार्य कुंदकुंद कृत समयसार, आज जो भी उपलब्ध हैं; वह आचार्य अमृतचंद्र कृत टीका के साथ ही उपलब्ध हैं और कुछ प्रकाशनों में आचार्य जयसेन की टीका भी उपलब्ध है।

इन सभी प्रकाशनों की एक विशेष बात यह भी है की जिन प्रकाशन में आचार्य जयसेन की टीका नहीं भी दी है, उन्होंने भी तात्पर्यवृत्ति में उपलब्ध गाथाओं को उसी क्रम में स्थान दिया है और उनका क्रमांक नए क्रम से आरंभ किया है।

‘आत्मख्याति’ में समयसार की ४१५ गाथाएँ ही उपलब्ध हैं और तात्पर्यवृत्ति में ४३७ गाथाएँ उपलब्ध हैं। इससे प्रतीत होता है कि मूल समयसार की दो प्रतियाँ रही होंगी।

इस पुस्तक में आरंभिक २१ गाथाओं की टीका को पद विच्छेद, शब्दार्थ सहित, सरल-सहज बोधगम्य भाषा में प्रस्तुत किया गया है। इन २१ गाथाओं में आचार्य अमृतचन्द्र की टीका की १८ गाथाएँ और उनके मध्य में उपलब्ध आचार्य जयसेन की टीका की ३ गाथाएँ सम्मिलित हैं। इसमें शब्दार्थ आचार्य जयसेन की टीका के आधार से दिए गए हैं।

चूँकि आज आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा लिखी टीका ‘आत्मख्याति’ के क्रम के अनुसार ही समयसार की गाथा का क्रम प्रचलन में है, अतः मैंने भी उसी क्रम को प्रस्तुत पुस्तक में अपनाया है। साथ ही साथ आचार्य जयसेन की ‘तात्पर्यवृत्ति’ टीका में उपलब्ध गाथाओं को भी यथास्थान उसी क्रम से नामोल्लेखपूर्वक दिया है।

उक्त २१ गाथाओं का सार संक्षेप में निम्न प्रकार है –

गाथा १ में इष्टदेव सिद्धों को नमस्कार करते हुए 'समयप्राभृत' नामक ग्रंथ लिखने की प्रतिज्ञा की गई है। साथ ही साथ विषयवस्तु को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने कह दिया है कि – 'मैं इसमें श्रुतकेवली द्वारा कथित शुद्धात्मा का स्वरूप बताऊँगा।'

गाथा २ से ४ में कहा गया है कि दर्शन–ज्ञान–चारित्र में स्थित जीव स्वसमय है और पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित जीव परसमय। एकत्व–निश्चयगत समय ही लोक में सर्वत्र सुन्दर है, यही कारण है कि एकत्व में बंध की बात विसंवाद पैदा करनेवाली है। विसंवादोत्पादक काम, भोग कथा और बंध की कथा से तो सम्पूर्ण जगत परिचित है। ऐसा कोई नहीं; जिसने उसे न सुना हो, उसका अनुभव न किया हो; किन्तु एकत्व–विभक्त आत्मा की बात न तो आजतक सुनी है, न उसका परिचय प्राप्त किया है, न उसका अनुभव ही किया है।

गाथा ५ में आचार्यदेव कहते हैं कि उसी एकत्व–विभक्त आत्मा की बात मैं अपने वैभव से बताऊँगा। हे भव्य जीवो! उसे तुम प्रमाण करना, कहीं कोई चूक रह जाय तो छल ग्रहण मत करना।

गाथा ६–७ में आचार्यदेव शुद्धात्मा का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि वह एकत्व–विभक्त आत्मा न तो प्रमत्त है, न अप्रमत्त ही; वह तो ज्ञायक स्वरूप ही है। यद्यपि यह व्यवहार से कहा जाता है कि उसके दर्शन–ज्ञान–चारित्र है, तथापि निश्चय से उसके न ज्ञान है, न दर्शन है, न चारित्र ही है। वह तो मात्र ज्ञायकभावरूप ही है।

गाथा ८ से १२ में निश्चय-व्यवहार की उपयोगिता-अनुपयोगिता को उदाहरण द्वारा समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि जिसप्रकार म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा बिना समझाना संभव नहीं है, उसीप्रकार व्यवहार बिना परमार्थ का उपदेश संभव नहीं है। अतः ज्ञायकभाव को भी व्यवहार से भेद करके समझाना पड़ता है।

निश्चय से तो श्रुतज्ञान से मात्र आत्मा को जाननेवाला ही श्रुतकेवली है, पर व्यवहार से सम्पूर्ण श्रुत के जानकार को श्रुतकेवली कहा जाता है। व्यवहारनय अभूतार्थ है और निश्चयनय भूतार्थ है, भूतार्थ के आश्रय से ही जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं। परमभाव में स्थित जीवों को निश्चयनय जानने योग्य है; किन्तु जो जीव अपरमभाव में स्थित हैं, वे जीव व्यवहारनय द्वारा उपदेश देने योग्य हैं।

गाथा १३ से १५ में सम्यग्दर्शन, शुद्धनय और जिनशासन का स्वरूप बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि भूतार्थनय से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष - ये नव तत्त्व ही सम्यक्त्व हैं। भूतार्थनय को निश्चयनय और शुद्धनय भी कहते हैं। जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष एवं असंयुक्त जानता है; वह शुद्धनय है। जो अबद्धस्पृष्टादि भावों से युक्त आत्मा को जानता है, वह एक प्रकार से सर्व जिनशासन को ही जानता है; क्योंकि समस्त जिनशासन का सार एक शुद्धात्मा ही है।

गाथा १६ से १८ में प्रेरणा देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि साधुपुरुषों को दर्शन-ज्ञान-चारित्र का नित्य सेवन करना चाहिये; क्योंकि वे तीनों निश्चयनय से एक आत्मा ही हैं। जिसप्रकार धनार्थी पुरुष राजा को जानकर उसका श्रद्धान करता है और

प्रयत्नपूर्वक फिर उसी का अनुचरण करता है; उसीप्रकार मोक्षार्थी को जीवरूपी राजा को जानना चाहिये, उसका ही श्रद्धान करना चाहिये एवं उसी का अनुचरण करना चाहिये।

आत्मख्याति टीका की गाथा १० के बाद आई **तात्पर्यवृत्ति की गाथा १** में स्वसमय में स्थित रहने की प्रेरणा देते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि सभी को दर्शन, ज्ञान, चारित्र की भावना भाना चाहिए; क्योंकि अभेदनय से तीनों आत्मा ही हैं।

तात्पर्यवृत्ति गाथा २ में स्वसमय में स्थित होने का फल बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जो मुनि आत्मा में लीन होता है, वह सर्व दुःखों से मुक्त हो जाता है।

तात्पर्यवृत्ति गाथा ३ आत्मख्याति की गाथा १५ के बाद आई है। इसमें भी शुद्धनय से शुद्धात्मा को जानने की, अनुभव करने की महिमा बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कह रहे हैं कि निश्चय से मेरे ज्ञान में आत्मा है, मेरे दर्शन में आत्मा है और चारित्र में आत्मा है और मेरे प्रत्याख्यान में, योग में, संवर में भी आत्मा है अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र योग और प्रत्याख्यान आदि सभी में शुद्धात्मा है।

जो जीव दुर्लभ शुद्धात्मा को, समयसार को समझकर, उसी में स्थित हो जाते हैं, उन्हें समयसार सुलभ हो जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि समयसार में वर्णित समस्त विषयवस्तु का सार यहाँ तक आ गया है। अत्यन्त संक्षेप में, इशारों में समझनेवाले श्रोताओं के लिए, पाठकों के लिए समयसार यहीं पूर्ण हो जाता है; किन्तु मध्यम रुचि और विस्तार रुचि वाले शिष्यों को ध्यान में रखकर आगामी गाथाओं में वे एक बार उस 'शुद्धात्मा' के स्वरूप को नवतत्त्वों के माध्यम से विस्तार से समझाते हैं।

चूँकि समयसार में वर्णित समस्त विषयवस्तु का सार यहाँ तक आ गया है; अतः इसे मैंने **'मिनी समयसार'** नाम दिया है।

●

समयसार कलश

नमः समयसराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावांतरच्छिदे ।।१।।

इसप्रकार हम देखते हैं कि पहला इन्द्रिय आनंद और दूसरा, तीसरा अतीन्द्रिय आनंद में क्वालिटी भेद है तथा दूसरे सम्यक् दृष्टि के अनिन्द्रिय आनंद में और केवलज्ञानी के अतीन्द्रिय आनंद में क्वालिटी (Quality) तो समान है, पर क्वांटिटी (Quantity) असमान है।

तो आइए अब नज़र डालते हैं सांसारिक आनंदों के स्वरूप पर!

सांसारिक आनंद

पहला सांसारिक आनंद पंचेंद्रियों के विषय भोगों को भोगने से उत्पन्न आनंद है। यह क्षणिक, नश्वर , दु:ख सहित और दु:ख का कारण भी होता है। अधिक क्या कहें ? यह तो दु:ख स्वरूप ही है और उसका फल भी दुखदायी होता है। यह सभी संसारियों के अनुभूतिगम्य है। जिन संसारियों ने अनादि से अभी तक इसके अलावा अन्य आनंद का स्वाद लिया ही नहीं। वे इससे भिन्न अन्य आनंद को जानते ही नहीं, पहचानते ही नहीं; समझते ही नहीं; अतः वे इसी की प्राप्ति में निरंतर लगे रहते हैं । वे पंचेंद्रियों के विषयों की पूर्ति होने पर आनंदित होते हुए उसी में तृप्त रहते हैं।

(To be continued on page no. 33)

मिनी समयसार

गाथा 1

वंदित्तु सव्वसिद्धे ध्रुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं ।।१।।

पदविच्छेद → सव्व-सिद्धे; ध्रुवं+अचलं+अणोवमं; समय-पाहुडं+इणमो; सुदकेवली-भणिदं।

शब्दार्थ → ध्रुवं = अविनाशी ; अचलं = चलायमान रहित स्थिर; अणोवमं = अनुपम; गदिं = गति को; पत्ते = प्राप्त हुए; सव्व = सभी; सिद्धे = सिद्धों को; वंदित्तु = नमस्कार कर; सुदकेवली = श्रुतकेवली (द्वारा); भणिदं = कहे गए; इणं = इस (यह); समयपाहुडं = समय पाहुड़ नामक ग्रन्थ और शुद्धात्मा को; वोच्छामि = कहूँगा।

संदर्भ → मंगलाचरण की इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द इष्टदेव को नमस्कार कर ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा करते हुए कहते हैं कि-

अर्थ → मैं ध्रुव, अचल और अनुपम गति को प्राप्त सभी सिद्धों को नमस्कार कर श्रुतकेवली द्वारा कहे गए शुद्धात्मा के प्रतिपादक इस 'समय पाहुड़' (समय प्राभृत) नामक ग्रन्थ को कहूँगा, लिखूँगा।

व्याख्या → आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा जीवंत है। ऐसा लगता है कि मानो आचार्यदेव के सामने शिष्य बैठे हों और वे उनसे कह रहे हों - मैं अब 'समयपाहुड़' समझा रहा हूँ, बता रहा हूँ, कह रहा हूँ। तुम सभी ध्यान से सुनो। इसी तरह का भाव पंचास्तिकाय की गाथा २ में व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा है -

''ऐसो पणमिय सिरसा समयमियं सुणह्न वोच्छामि'' अर्थात् ऐसे 'समय' को मस्तक झुकाकर नमस्कार करके मैं कहता हूँ, तुम ध्यान से सुनो।

इस गाथा की पहली पंक्ति में ३ विशेषणों के द्वारा इष्टदेव को स्मरण पूर्वक नमस्कार करते हुए मंगलाचरण के नियमों का पालन किया गया है और द्वितीय पंक्ति में ग्रन्थ के नाम का उल्लेख करते हुए ग्रन्थ की प्रामाणिकता का आधार भी बताया गया है।

इसमें देव के रूप में सिद्धों को और परम्परागुरु के रूप में श्रुतकेवली को नमस्कार किया गया है।

यहाँ महत्वपूर्ण विशेष बात ध्यान देने योग्य यह है कि इस गाथा में कहीं किसी भी रूप में व्यक्ति विशेष का उल्लेख नहीं किया गया है। जैसे – देव के रूप में सभी सिद्धों को और प्रामाणिकता के लिए सभी श्रुतकेवलिओं का स्मरण किया गया है, साथ ही साथ उनके गुण बताकर यह ज्ञान भी करा दिया है कि – **जैन दर्शन में व्यक्ति नहीं, गुण पूज्य हैं।** सो उचित ही है। यह विधि, प्रयोग, तरीका उनके जैसे प्रतिष्ठापक आचार्य के योग्य ही है; क्योंकि **शिष्यों और बालकों की प्रवृत्ति अनुकरण की होती है।** वह अपने गुरू और माता–पिता का अनुकरण कर सहजता से बड़ी–बड़ी बातें भी सीख जाते हैं और कहकर छोटी–छोटी बातें मनवाने में पसीना छूटता है।

जैसा हम सभी जानते हैं कि – तीर्थंकर भगवान महावीर के पश्चात् केवली और श्रुतकेवली की परम्परा में अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु हुए हैं, जिन्हें आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने गमकगुरू के रूप में स्मरण किया है।

यहाँ विशेष बात ध्यान देने योग्य यह है कि यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द ने विदेहक्षेत्र में सीमंधर परमात्मा के दर्शन प्रत्यक्ष किए थे, फिर भी वे अपने को श्रुतकेवली की परम्परा से जोड़ रहे हैं। उन्होंने स्वयं विदेहक्षेत्र की घटना का, सीमंधर परमात्मा के दर्शन का उल्लेख कहीं नहीं किया है; जबकि 'बोध पाहुड़' की ६१वीं और ६२वीं गाथाओं में भद्रबाहु का गमकगुरू के रूप में स्पष्ट उल्लेख है। जो 'डायरेक्ट' गुरू न होकर गुरुओं के गुरू हों, उन्हें परम्परागुरु या गमकगुरु कहते हैं। जैसे आचार्य कुन्दकुन्द हमारे गमकगुरु हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द इस गाथा में दुःखों से त्रस्त, दुःखों के भुक्तभोगी (self-experienced) जीवों को दुःखों से मुक्ति का उपाय बताने के पूर्व दुःखों से मुक्त जीवों का स्मरण कर रहे हैं; क्योंकि जैसा हम बनना चाहते हैं, यदि वैसा ही उदाहरण हमारे सामने हो तो हमारे विश्वास को बल मिलता है और हमारे कदम उन जैसा बनने की दिशा में तेजी से बढ़ते हैं।

यद्यपि सिद्धों में अनेक गुण पाए जाते हैं, फिर भी आचार्यदेव ने उनमें से इन्हीं विशेषणों का प्रयोग किया है; क्योंकि समस्त संसारी जीव चारों गतियों के दुःखों से त्रस्त हैं। वे इन दुःखों से, इस भव भ्रमण से बचना चाहते हैं। **जिस चीज की चाहत हो, उसे पाने के लिए जीव उतावले रहते हैं।** अपनी सम्पूर्ण शक्ति से, तन-मन-धन से उसे पाने का प्रयास करते हैं। अतः **अचल** गति का उल्लेख किया गया है तथा आश्वस्त किया है कि यदि एक बार चारों गतियों से छुटकारा पा लिया तो पुनः उसमें जाना नहीं पड़ेगा।

समस्त संसारी जीव परिवर्तन से भी परेशान रहते हैं, दुःखी रहते हैं। वे दुःखी अवस्था का परिवर्तन तो चाहते हैं, पर सुखी अवस्था का परिवर्तन नहीं चाहते। सुखी अवस्था को तो वे ज्यों की त्यों ही बनाए रखना चाहते हैं और उनकी इसी चाहत की पूर्ति **ध्रुव** विशेषण से होती है।

सिद्ध दशा में परिवर्तन तो होगा, क्योंकि परिवर्तन वस्तु का स्वभाव है; पर वह परिवर्तन सदा एक-सा ही होता है, सुखरूप ही होता है। सुख की वैसी की वैसी पर्याय सदा उत्पन्न होती रहती है। उनका सुख कभी दुःख में नहीं बदलता। संसारी जीवों का दुःख, सुख में और सुख, दुःख में बदलता रहता है; पर सच्चे सुख में नहीं।

संक्षेप में कहें तो वस्तु व्यवस्था में ऐसी व्यवस्था तो है कि दुःखों में परिवर्तन होता रहता है, पर सच्चा सुख सदा सुखरूप ही रहता है।

दूसरी बात संसारी जीव जैसा अपना भविष्य चाहते हैं, यदि वैसा ही अनुपम उदाहरण उन्हें देखने को मिल जाए तो वह उसे अपना आदर्श मानकर उसे अपने जीवन में उतारने का प्रयास करते हैं।

संसारी जीवों की इसी इच्छा से परिचित आचार्यदेव सिद्धों का जीवंत उदाहरण देते हैं कि - देखो! द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म रहित शुद्धात्मा में लीन होकर सिद्धों ने ध्रुव, अचल, अनुपम गति प्राप्त कर ली है; अतः वे हमारे पूज्य हैं। उनकी तुलना अन्य किसी से नहीं की जा सकती है, अतः वे **अनुपम** हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इस गाथा में सिद्धों को आदर्श रूप में, साध्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। संसारी जीवों को शुद्धात्मा साध्य है। वह शुद्धात्मा साक्षात् सिद्ध हैं।

सिद्ध अर्थात् शुद्धात्मा, पर्याय से भी शुद्धात्मा। ऐसे शुद्धात्मस्वरूप सिद्ध एक नहीं हैं, अनेक हैं; अनन्त हैं। अतः उन्हें ग्रन्थ के आरंभ में याद करना, नमस्कार करना उचित ही है।

'समय' के अनेक अर्थ होते हैं। उसके एक अर्थ – 'टाईम' से हम सब परिचित हैं, अभ्यासी हैं। अतः समय सुनते ही उसी ओर हमारा ध्यान सबसे पहले जाता है। संस्कृत में 'समय' निम्न दो अर्थों में भी प्रयुक्त होता है –

(१) जो एकसाथ गमन भी करे और ज्ञान भी करे – ऐसा पदार्थ समय है। इसके अनुसार समय का अर्थ आत्मा होता है।

(२) जो गुण पर्याय वाला हो – ऐसा पदार्थ समय है। इस अर्थ के अनुसार समय का अर्थ छः द्रव्य होता है।

प्रस्तुत गाथा में 'समय' पद 'आत्मा' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। पाहुड़ को संस्कृत में 'प्राभृत' और हिंदी में 'सार' कहते हैं। सार अर्थात् सारभूत। आत्मा की सारभूत अवस्था शुद्ध अवस्था है, अतः आत्मा की 'शुद्धावस्था' ही समयप्राभृत है।

इसप्रकार गाथा में प्रयुक्त समयपाहुड़ पद दो अर्थ बतलाता है–

(१) मैं समयपाहुड़ ग्रन्थ कहूँगा।

(२) इस ग्रन्थ में आत्मा की शुद्धावस्था का प्रतिपादन करूँगा।

आचार्य अमृतचन्द्र की समयसार की टीका का नाम 'आत्मख्याति' भी इसी भाव को व्यक्त करता है। जब कि इन्हीं टीकाकार ने 'पंचास्तिकाय' की टीका का नाम 'समयव्याख्या' दिया है; क्योंकि उसमें 'समय' अर्थात् छः द्रव्य का विस्तार से वर्णन है।

चूँकि आचार्यदेव पंचास्तिकाय में समय के स्वरूप पर विस्तार से चर्चा कर आए हैं। अतः यह ग्रंथ वे समय की सारभूत अवस्था से ही आरंभ करते हैं।

इसके पश्चात् गाथा २ में स्वसमय और परसमय समझाया गया है।

●

धर्मगुरु, शास्त्र हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित भी करते हैं, पर जब तक हमें उन सांसारिक सुखों में दुःख महसूस नहीं होता, तब तक हम उनकी बात पर ध्यान नहीं दे पाते। जब तक हमें विषय भोगों में आनंद मिलता रहता है, तृप्ति मिलती रहती है, तब तक हम पारमार्थिक आनंद की ओर कदम भी नहीं बढ़ाते हैं।

अब हम आगे उस पारमार्थिक आनंद के स्वरूप को समझेंगे।

पारमार्थिक आनंद

दूसरा अनिन्द्रिय आनंद और तीसरा अनंत आनंद दोनों ही पारमार्थिक आनंद की श्रेणी में आते हैं। यह आनंद ज्ञान से उत्पन्न आनंद है; अपने ज्ञान स्वरूप में अपनेपन से उत्पन्न आनंद है।

यह सुख सहित, सुख का कारण और सुख स्वरूप और उसका फल भी सुखदायी है। यह सभी सम्यग्दृष्टियों के अनुभूतिगम्य है। जो संसारी जीव एक बार इस आनंद का पान कर लेते हैं, वे अपने संसार को सीमित कर लेते हैं और जो लगातार अंतर्मुहूर्त तक इस आनंद का पान करते रहते हैं, वे संसार से मुक्त हो जाते हैं।

तो आइए अब हम दोनों आनंद के अंतर को समझते हैं।

(To be continued on page no. 63)

गाथा 2

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदो तं हि ससमयं जाण।
पोग्गलकम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं ।।२।।

पदविच्छेद → चरित्त-दंसण-णाण-ट्ठिदो; पोग्गल-कम्म-पदेस-ट्ठिदं ।

शब्दार्थ → जीवो = (जो) जीव; चरित्त = चारित्र; दंसण = दर्शन; णाण = ज्ञान में; ट्ठिदो = स्थित हैं; तं = उनको (उन्हें); हि = निश्चय से; ससमयं = स्वसमय; जाण = जानो; च = और; पोग्गल = पुद्‌गल; कम्म = कर्म; पदेस = प्रदेश में; ट्ठिदं = स्थित; परसमयं = परसमय; जाण = जानो।

संदर्भ → समय (जीव) के प्रकारों (अवस्थाओं) के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए इस गाथा में कहा गया है कि -

अर्थ → जो जीव दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित हैं, उन्हें ही निश्चय से स्वसमय जानो और जो पुद्‌गल कर्म के प्रदेशों में स्थित हैं, उन्हें परसमय जानो।

व्याख्या → इस गाथा में आत्मा के परिणमन की अपेक्षा भेद करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि- जीव का अपने ध्रुव आत्मा के साथ एकत्वरूप परिणमन होना स्वसमय है और ध्रुव आत्मा के साथ एकत्वपना छोड़ कर राग के साथ एकत्वरूप परिणमन होना परसमय है।

अपने आत्मा में एकत्व-ममत्व रखना ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होना है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होना कहो या

आत्मा में स्थित होना – दोनों ही पर्यायवाची हैं। दोनों कथनों में मात्र अपेक्षा भेद है। उक्त कथनों में एक ही चीज को दो तरह से कहा गया है। जिसके लक्ष्य से पैदा हुआ उस अपेक्षा आत्मा में स्थित कहा जाता है और जो पैदा हुआ उसकी दृष्टि से दर्शन–ज्ञान–चारित्र में स्थित कहा जाता है।

आत्मस्वभाव में स्थित अर्थात् अपने आत्मा को जानना और मानना कि 'ये ही मैं हूँ' – इसे ही दर्शन–ज्ञान–चारित्र में स्थित होना कहा है।

पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित होना अर्थात् पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से जो–जो भी संयोग या संयोगी भाव होते हैं, उनमें अपनापन होना ही पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित होना है। दूसरे शब्दों में कहें तो द्रव्यकर्मों के उदय में सभी संयोगों और संयोगी भावों के संबंध में हमारे अंदर जो अनेक विकल्प उठते हैं और उनमें जो एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि व भोक्तृत्वबुद्धि होती है; उन्हें ही यहाँ पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित होना कहा है।

उक्त द्रव्यकर्मों के उदय के निमित्त से आत्मा की अपनी पर्याय में जो मोह–राग–द्वेष भाव पैदा होते हैं, उनमें आत्मा को एकत्वबुद्धि हो जाती है; उसे ही यहाँ पुद्गलकर्मों के प्रदेशों में स्थित होना कहा है।

परसमय में रत जीवों की हालत कार–ट्रक आदि वाहन के ड्राइवर जैसी होती है। जैसे – वे वाहन में स्थित होकर अपने आपको उस लंबाई–चौड़ाई का मानते हुए, उसी में फंसे रहते हैं; छोटी–छोटी जगह से निकल नहीं पाते हैं। वैसे ही परसमयरत जीव संयोग व संयोगी भावों रूप वाहनों में ही उलझे रहते हैं और संसार चक्र से निकल नहीं पाते हैं। यह स्वसमय–परसमय

पर्यायें हैं और आत्मा की पर्यायों में ही स्वसमयपना-परसमयपना आया है। दृष्टि के विषय में यह नहीं है।

यहाँ विशेष बात ध्यान देने की यह है कि स्वसमय और परसमय भेद परिणति में पड़ते हैं; अतः स्वसमय- परसमय के यह भेद दो भिन्न-भिन्न जीवों पर नहीं, एक ही जीव पर घटते हैं । जैसे- जब जीव राग - द्वेष विकारी भावरूप परिणमित होता है, तब वह 'परसमय' कहलाता है। राग-द्वेष आदि विकार का जितना अंश है, वह सब पुद्‌गलकर्म के प्रदेश हैं, आत्मा का भाव नहीं। अतः उसे 'पुद्‌गलकर्म के प्रदेशों में स्थित' भी कहा जाता है।

अनादि से जीव राग-द्वेष आदि रूप परिणमित होते हुए राग में ही स्थित रहते हैं।

विकारी भावों से परिणमित होते हुए इन जीवों में से जब कोई जीव अपने स्वरूप में परिणमन करते हुए शुद्ध परिणति में आता है, तब 'स्वसमय' कहलाता है।

इसप्रकार इस गाथा में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि जो शुद्धात्मा को जानता है और उस रूप ही परिणमन करता है, वही 'स्वसमय' कहलाता है।

आचार्य जयसेन ने इस गाथा की टीका में निश्चयरत्नत्रय रहित सभी मिथ्यादृष्टि जीवों को परसमय और निश्चयरत्नत्रय सहित सभी जीवों को स्वसमय कहा है। दूसरी दृष्टि से यदि विचार करें, तो निश्चयरत्नत्रय परिणत जीवों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। वे भेद चारित्र की पूर्णता-अपूर्णता के आधार पर घटित होते हैं; क्योंकि सम्यग्दर्शन तो अपूर्ण होता ही नहीं है और सम्यक् ज्ञान भी सम्यक्-मिथ्या की अपेक्षा पूर्ण सम्यक् ही होता है। भले केवलज्ञान नहीं है, पर सम्यक्-पने में कोई अंतर नहीं होता।

इसप्रकार निश्चयरत्नत्रय परिणत जीवों को निम्नांकित तीन भागों में रखा जा सकता है:-

(१) निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो जाने से चतुर्थ गुणस्थानवाले जीव निश्चयरत्नत्रय से परिणत हैं। इस अपेक्षा तो चतुर्थगुणस्थान से लेकर सिद्ध तक सभी जीव स्वसमय ही हैं।

(२) आत्मध्यान में स्थित जीवों को ही यदि निश्चयरत्नत्रय परिणत कहें, तो सातवें गुणस्थान से ऊपर वाले जीव ही स्वसमय कहलायेंगे।

(३) यदि पूर्ण वीतरागियों को ही निश्चयरत्नत्रय परिणत कहें, तो बारहवें गुणस्थान से आगे वाले ही स्वसमय कहलायेंगे।

निश्चयरत्नत्रय चौथे गुणस्थान से आरंभ होकर सिद्ध दशा तक रहता है; अतः उक्त सभी गुणस्थानवर्ती जीव स्वसमय हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो सभी अन्तरात्मा और परमात्मा स्वसमय हैं तथा शेष सभी बहिरात्मा परसमय हैं।

परसमयपना दुःख का कारण है, अतः हेय है। स्वसमयपना सुख का कारण है, अतः उपादेय है।

प्रत्येक संसारी जीव अनादि काल से आरंभ में परसमय रूप ही होते हैं। इनमें से जो जीव अपने में स्थित हो जाते हैं, उनका स्वसमय आरंभ हो जाता है।

इसप्रकार इस गाथा में समयप्राभृत (शुद्धात्मा) की परिभाषा अर्थात् स्वसमय का स्वरूप और शुद्धात्मा के स्वभाव से विपरीत अवस्था अर्थात् परसमय का स्वरूप बताया गया है।

इसके पश्चात् गाथा ३ में स्वसमय-परसमय की हेयोपादेयता पर विचार करते हुए उनका फल बता दिया गया है।

●

गाथा 3

एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि ।।३।।

पदविच्छेद → एयत्त-णिच्छय-गदो, बंध-कहा ।

शब्दार्थ → एयत्त = एकत्व; णिच्छय = निश्चय को; गदो = प्राप्त; एयत्तणिच्छयगदो = दर्शन-ज्ञान-चारित्र में अभेद रूप से परिणमित; समओ = आत्मा; लोए = लोक में; सव्वत्थ = सर्वत्र; सुन्दरो = सुन्दर है, शोभा पाता है; तेण = उसके द्वारा; एयत्ते = एकत्व में; बंधकहा = (कषायों से होनेवाले चार प्रकार के) बंध की कथा; विसंवादिणी = दुविधा उत्पन्न करने वाली; होदि = होती है।

संदर्भ → दोनों समय में रहने वाले जीवों के अन्तर को बताते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि -

अर्थ → अपने दर्शन-ज्ञान-चारित्र में अभेदरूप से परिणमित आत्मा लोक में सर्वत्र ही सुंदर है, शोभा पाता है। इसलिए अपने इस एकत्व में दूसरे के साथ बंध की कथा दुविधा करने वाली है।

व्याख्या → गाथा २ के समान ही इस गाथा में भी त्रिकाली ध्रुव आत्मा की बात नहीं है। इसमें तो परिणमन की अपेक्षा दो भेद करते हुए आचार्यदेव कह रहे हैं कि अपने शुद्ध गुण-पर्याय रूप परिणमित आत्मा ही शोभा को प्राप्त होता है। जैसे - हम देखते हैं कि लोक में भी सभी पदार्थ अपने शुद्ध स्वरूप में ही अच्छे माने जाते हैं। उनमें अन्य वस्तु मिलाने पर अशुद्धि हो जाती है। जिसप्रकार डालडा में शुद्ध घी मिलाने पर

भी डालडा अशुद्ध ही कहलाता है, शुद्ध दूध में शुद्ध पानी मिलाने पर भी दूध अशुद्ध हो जाता है और झगड़े की जड़ बनता है। उसीप्रकार आत्मा में पर के साथ, पुद्गल के साथ मिलावट ही दुःख की जड़ है।

जैसे कोई व्यक्ति पिता के द्वारा दी गयी संपत्ति में से अपने भाई की संपत्ति को हड़पे और अदालत में जाए तो जज़ उसे समझाता है कि– तुम दोनों अपनी–अपनी सीमाओं में रहो। एक दूसरे की सीमा का उल्लंघन न करो – इसी में तुम्हारे परिवार की और तुम्हारी शोभा है, समाज में इज्जत है। यदि दूसरे की संपत्ति पर अधिकार किया तो झगड़ा होगा, इज्जत भी जाएगी। जाओ! दोनों शान्ति से विचार करो! तुम्हें क्या चाहिए – इज्जत, सम्मान और शान्त जीवन या बेइज्जती, निंदा और दुःखी जीवन? निर्णय तुम्हारे हाथ में है। वैसे ही जब जीव अपने में एकत्व न करके; पर के साथ, पुद्गल के साथ एकता स्थापित करता है; तो बंधकथा का आरंभ होता है, विसंवाद होता है, दुःख होता है। पर से एकता स्थापित करना – यही परसमयपना है। शुद्धनिश्चयनय से यह जीव का स्वरूप नहीं है।अतः हमें अपने दर्शन–ज्ञान–चारित्र की सीमा में ही रहना चाहिए, अभेदरूप अनुभव करना चाहिए। इसप्रकार अपने में एकत्व स्थापित करना ही स्वसमयपना है।

दूसरे यदि आज की परिस्थितियों पर हम इसे घटाएँ, तो इसप्रकार समझना होगा कि जैसे – प्रधानमंत्री मोदीजी हम सभी से अनुरोध कर रहे हैं कि देखो! यदि तुम अपने घर में स्थित रहे, तो तुम्हारा कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता; पर घर के बाहर

निकले, पर से संपर्क बनाया तो कोरोना वायरस से फैलने वाली महामारी से तुम्हें बचाना मुश्किल होगा। कोरोना वायरस मतलब साक्षात् यमदूत। उससे बचने का कोई उपाय नहीं है। अतः तुम्हीं विचार करो, तुम्हें क्या करना है? उसीप्रकार आचार्यदेव यहाँ कह रहे हैं कि - हे भव्य! तूँ विचार कर तुझे क्या चाहिए? यदि तूँ अपने स्वभाव में रहता है, स्वसमय में रहता है, तो तुझे सुख व शान्ति मिलेगी; पर यदि तूँ अपने स्वभाव की मर्यादा का अतिक्रमण कर पर की सीमा में प्रवेश करेगा, पर में एकत्व करेगा, परसमयपना अपनायेगा तो दुःख और अशान्ति के अलावा कुछ नहीं मिलने वाला है। अब तूँ स्वयं निर्णय कर तुझे कैसा जीवन चाहिए? किसे अपनाना है और किसे छोड़ना?

इसप्रकार आचार्यदेव प्रत्यक्षरूप (direct) से स्वसमय और परसमय में रहने का फल बताकर परोक्षरूप (indirect) से स्वसमय को उपादेय और परसमय को हेय बता रहे हैं। उन्होंने हमें इस गाथा में वस्तुस्थिति का परिचय करा दिया है। स्वसमय और परसमय में रहने का फल बता दिया है कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होगा, वही स्वसमय है, वही उपादेय है; वही संपूर्ण दुःखों से मुक्त होगा, वही मुक्तिरमा का वरण करेगा।

निर्णय तो हमें ही करना है कि हमें कैसा जीवन चाहिए? स्वसमय और परसमय में से किसे अपनाना है और किसे छोड़ना है?

दूसरी गाथा में जिसे पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित होना कहा था, उसे ही इस गाथा में बंधकथा कहा है।

बंधकथा में कषायों से होने वाले चार प्रकार के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति व अनुभाग बंध और उसके फल में प्राप्त होने वाली नरक आदि पर्यायें तथा गुणस्थानादि रूप संसारी पर्यायें शामिल हो जाती हैं।

इस ग्रन्थ में बंधकथा का विस्तार से वर्णन है। बंध कथा के लिए पूरा बंधाधिकार तो है ही, मोक्षाधिकार में भी प्रकारांतर से बंध की ही चर्चा है। उसमें कहा गया है कि बंधन के प्रकार जानने से भी बंधन से मुक्ति नहीं होती।

इस अधिकार में भी १३वीं गाथा से बंधकथा को समझाया जा रहा है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द ने इन तीन गाथाओं में ही अत्यंत संक्षेप में समयसार का सार बता दिया है।

जैसा कि हम जानते हैं – आचार्य कुन्दकुन्द ने जब ग्रन्थ लिखने आरंभ किए, उसके पूर्व श्रुतपरम्परा से तत्त्वज्ञान की धारा बह रही थी। अतः उस समय उपस्थित अधिकांश श्रोता उपदेश सुनकर स्मृति में रखने के अभ्यासी थे और वक्ता भी अपनी बात अत्यन्त संक्षेप में कह दिया करते थे।इसलिए उस समय उपस्थित शुद्धोपयोग से विचलित शुभोपयोग में अटकने वाले श्रोताओं, पाठकों के लिए शुद्धोपयोग की प्रेरणा देनेवाली ये दूसरी और तीसरी गाथायें ही पर्याप्त हैं। यही कारण है कि संक्षिप्त में समझने के अभ्यासी **सम्यग्दृष्टि विद्वान, मुनिराज, श्रोताओं** के लिए, पाठकों के लिए तो समयसार यहीं पूर्ण हो जाता है। यही समयसार का **प्रथम पड़ाव** है।

इसके पश्चात् आचार्यदेव गाथा ४ में परसमय कथा की सुलभता और स्वसमय कथा की दुर्लभता का ज्ञान पाठकों को करा रहे हैं।

●

गाथा 4

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा ।
एयत्तस्सुबलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ।।४।।

पदविच्छेद → सुदा-परिचिदा-अणुभूदा, काम-भोग-बंध-कहा; एयत्तस्स+उवलंभो।

शब्दार्थ → सव्वस्स वि = सब जीवों ने; काम = स्पर्शन, रसना से संबंधित इंद्रियों के विषय-भोग; भोग = घ्राण, चक्षु व श्रोत्र से संबंधित इंद्रियों के विषय-भोग; बंधकहा = (प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेश) बंध की कथा; सुदा = अनन्त बार सुनी है; परिचिदा = अनन्त बार परिचय प्राप्त किया है; अणुभूदा = अनन्त बार अनुभव भी किया है; णवरी = परन्तु, केवल; विहत्तस्स = पर से भिन्न ; एयत्तस्स = अपने से अभिन्न आत्मा; उवलंभो = उपलब्धि, प्राप्ति या लाभ होना; सुलहो = सुलभ; ण = नहीं है।

संदर्भ → एकत्व-विभक्त कथा की दुर्लभता और काम-भोग-बंध कथा की सुलभता का कारण बताते हुए इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि -

अर्थ → सब जीवों ने काम-भोग-बंध कथा अनन्त बार सुनी है, अनन्त बार परिचय प्राप्त किया है और अनन्त बार अनुभव भी किया है अतः वह सुलभ है; किन्तु पर से भिन्न अपने से अभिन्न आत्मा की कहानी न सुनी है, न परिचय में आई है, न ही अनुभूति में आई है; अतः वह सुलभ नहीं है, दुर्लभ है।

व्याख्या → दूसरी गाथा में जिसे पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित होना कहा था, तीसरी गाथा में जिसे बंधकथा कहा था; उसे ही इस गाथा में श्रुत, परिचित और अनुभूत बताया जा रहा है और दूसरी गाथा में जिसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होना कहा था, तीसरी गाथा में जिसे एकत्व निश्चयगत सुंदर और सुख का कारण कहा था; उसे ही इस गाथा में अपरिचित, अननुभूत और दुर्लभ बताया जा रहा है।

इस गाथा में बंधकथा को विस्तार देते हुए काम कथा, भोग कथा भी जोड़ दी गई है। यद्यपि लौकिक में काम-भोग को अक्सर लोग पर्यायवाची के रूप में प्रयोग करते हैं, तथापि आचार्य जयसेन ने काम शब्द का अर्थ स्पर्शन और रसना इंद्रिय का विषय तथा भोग शब्द का अर्थ घ्राण, चक्षु एवं कर्ण इन्द्रिय का विषय किया है। इसप्रकार काम-भोग का अर्थ पंचेन्द्रियों के विषय भोगों की कथा हो गया है। स्पर्शन-रसना इंद्रियों का भोग, मैथुन, भोजन आदि क्रियाओं का त्याग संभव है और घ्राण, चक्षु व कर्ण इंद्रियों के भोग का त्याग संभव नहीं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि पाँच इंद्रियों के विषयों एवं चार प्रकार की कषायों के कारण होने वाले बंध व उसके फल में प्राप्त होने वाली नरक आदि गतियों तथा गुणस्थानादि रूप संसारी पर्यायों की कथा तो इस जीव ने अनंत बार सुनी है, समझी है, परिचय प्राप्त किया है, अनुभव भी किया है। अतः वह कथा तो सर्व सामान्य को सहज ही सुलभ है; किंतु पर से भिन्न, राग से भिन्न और स्वभाव से अभिन्न आत्मा की बात सुलभ नहीं है।

यह मानव स्वभाव है कि जिससे हम परिचित होते हैं, उसे अपनाते हैं और जिनसे अपरिचित होते हैं, उन्हें अपनाने में झिझकते हैं, अनेक बार सोचते हैं। मानवों की इसी वृत्ति को ध्यान में रखकर मानो आचार्यदेव कह रहे हैं - हे भव्य! तूँ निर्णय लेने के पहले एक बार विचार करना। मैं जानता हूँ, परसमय (कामभोगबंध) की कथा से तुम परिचित हो; अतः उसे अपनाना आसान है। एकत्व-विभक्त आत्मा से तुम परिचित नहीं हो; अतः उसकी प्राप्ति के पूर्व तुम्हें उसे समझना होगा, जानना होगा। उसे जाने बिना उसकी प्राप्ति दुर्लभ ही होगी।

इसप्रकार आचार्यदेव ने इस गाथा में दुर्लभ एकत्व-विभक्त आत्मा को जानने की जिज्ञासा, रुचि शिष्य में उत्पन्न करते हुए कह दिया कि जिस विषय से तुम परिचित हो, उसी की चर्चा मैं क्या करूँ, क्यों करूँ? - यह कहकर के वे हमें संदेश भी देना चाहते हैं कि तुम भी आपस में काम, भोग, बंध कथा की चर्चा कर अपना अमूल्य मनुष्यभव बर्बाद मत करना। माना कि एकत्व-विभक्त आत्मा की बात जानना सुलभ नहीं है, पर असंभव भी नहीं है। हाँ, दुर्लभ अवश्य है।

दुर्लभ एकत्व-विभक्त आत्मा की चर्चा को सुलभ बनाने के लिये उन्होंने समयसार लिखा। जो जीव इस दुर्लभ समयसार को, शुद्धात्मा को समझकर उसी में स्थित हो जाते हैं, उन्हें वह समयसार सुलभ हो जाता है।

इसके पश्चात् मध्यम रुचि और विस्तार रुचि शिष्यों को ध्यान में रखकर ५वीं गाथा में वे एक बार फिर उस शुद्धात्मा के स्वरूप को अपने सम्पूर्ण ज्ञानवैभव से बताने की प्रतिज्ञा करते हैं; क्योंकि श्रुतपरम्परा के आदी (habitual) श्रावकों को भी छोटे-छोटे पड़ाव देने आवश्यक थे, ताकि सभी श्रावक-पाठक भी संक्षेप में मूल कथन याद रख सकें।

गाथा 5

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं ।।५।।

पदविच्छेद → एयत्त-विहत्तं ।

शब्दार्थ → अप्पणो = अपने; सविहवेण = स्व (निज) वैभव से; तं = उस; एयत्त = एकत्व; विहत्तं = विभक्त (आत्मा को); दाएहं = दिखाता हूँ; जदि = यदि; दाएज्ज = दिखाऊँ; पमाणं = प्रमाण कर स्वीकार करना; चुक्केज्ज = चूक जाऊँ; छलं = छल; ण = नहीं; घेत्तव्वं = ग्रहण करना।

संदर्भ → आत्मा के स्वसमय के जिस रूप से शिष्य परिचित नहीं है, उससे परिचय कराने के उद्देश्य से आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि -

अर्थ → मैं अपने स्ववैभव से उस एकत्व-विभक्त आत्मा को दिखाऊँगा। यदि दिख जाए तो उसे स्वीकार करना और यदि चूक जाऊँ तो छल ग्रहण नहीं करना।

व्याख्या → पहली गाथा में जिसे 'समयप्राभृत' कहा था, दूसरी गाथा में जिसे 'स्वसमय' कहा था, तीसरी गाथा में जिसे 'एकत्व-निश्चयगत' कहा था और चौथी गाथा में जिसे 'एकत्व-विभक्त' कहकर उसकी चर्चा को दुर्लभ बताया था; ऐसे आत्मा से अपरिचित शिष्य को एकत्व-विभक्त आत्मा की चर्चा सुलभ करने की भावना से आचार्यदेव आगे उसी की चर्चा करने की प्रतिज्ञा करते हुए कह रहे हैं- मैं तो अपनी पूर्ण सामर्थ्य से, बुद्धि से; वस्तु स्वरूप का सही प्रतिपादन करूँगा, पर तुम उसे

आँख बंद कर स्वीकार नहीं करना। उसे प्रमाण की कसौटी पर कसकर स्वीकार करना। जो बात मैं अपनी अनुभूति से कह रहा हूँ, उसे तुम अपनी अनुभूति से प्रमाणित करना।

इसप्रकार प्रकारान्तर से आचार्यदेव शिष्य को अनुभूति करने की प्रेरणा भी दे रहे हैं। वे इस गाथा में यह कह रहे हैं तुम इसे बार-बार सुनोगे, समझोगे, प्रमाण की कसौटी पर कसोगे, अपनी अनुभूति का विषय बनाओगे तो तुम्हें भी यह बात दुर्लभ नहीं रहेगी। श्रुत, परिचित, अनुभूत होने से सुलभ हो जाएगी।

एकत्व अर्थात् स्वयं से अभिन्न, अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड। यहाँ विशेष बात ध्यान रखने की यह है कि 'स्व से अभिन्न' में स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव सभी सम्मिलित हो जाते हैं।

विभक्त अर्थात् परपदार्थों और पर्यायों से भिन्न आत्मा। परपदार्थ में अपने आत्मा को छोड़कर जगत में जितने पदार्थ हैं, वे सभी आ जाते हैं। जिनमें पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - ये पाँच अजीव द्रव्य तो शामिल हैं ही; साथ-ही-साथ स्व को छोड़कर शेष सभी जीव द्रव्य भी शामिल हैं।

इसीप्रकार पर्यायों में भी पर के लक्ष्य से आत्मा में उत्पन्न होनेवाले विकारी परिणाम तो शामिल ही हैं, किन्तु साथ-ही-साथ शुभभाव और स्व के लक्ष्य से होनेवाले अविकारी परिणाम, निर्मलभाव, शुद्धभाव भी शामिल हैं; क्योंकि वह भी पर्याय हैं।

वैभव शब्द सुनते ही हमारा ध्यान धन-संपत्ति, गाड़ी, बंगला आदि भौतिक व लौकिक बाह्य सामग्री की ओर ही जाता है; पर यह वैभव तो उनके पास नहीं था। इसे त्यागकर वे मुनिराज

बने थे। उनका वैभव 'ज्ञानवैभव' था। एक्त्व-विभक्त आत्मा के विषय में उन्होंने सुना था, परिचय प्राप्त किया था, अनुभूति की थी और वे चाहते हैं कि हम भी सुनें, समझें और अनुभूति का विषय बनाएँ।

इस गाथा का अंतिम अंश '**चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं**' अर्थात् 'यदि चूक जाऊँ तो छल ग्रहण नहीं करना' से आचार्यदेव की विनम्रता प्रदर्शित हो रही है। यह तो हम सभी जानते ही हैं कि निरंतर हर अंर्तमुहूर्त में आत्मा के दर्शन करने वाले विद्वान आचार्य कुन्दकुन्द से तत्व संबंधी कोई भूल होने वाली नहीं थी; किंतु अक्षर, पद, मात्रा संबंधी यदि कोई भूल हो तो अर्थ का अनर्थ नहीं करना। यह कहकर आचार्यदेव बाल की खाल निकालकर विपरीत मान्यता की पुष्टि करने वालों को हल्की सी डांट भी पिलाकर कह रहे हैं कि जैसा मैंने बताया है, वैसा आत्मा का अनुभव यदि तुम्हें न हो तो छल ग्रहण कर अर्थ का अनर्थ नहीं करना; स्वयं को सही नहीं मानना, अपनी समझ अनुसार व्याख्या नहीं करना; वरना तुम अपने साथ-साथ दूसरों का भी अनर्थ करोगे।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द ने सर्वप्रथम पहली गाथा में समयप्राभृत कहने की प्रतिज्ञा की। दूसरी गाथा में स्वसमय और परसमय के स्वरूप पर प्रकाश डाला। तीसरी गाथा में स्वसमय व परसमय में परिणमित होने के फलस्वरूप होनेवाली स्थिति को बताया। चौथी गाथा में स्वसमय की दुर्लभता और परसमय की सुलभता के कारण बतलाए। पाँचवीं गाथा में स्वसमय के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डालने की प्रतिज्ञा की।

उक्त सभी गाथाओं में एक क्रमबद्ध विकास है। पहली गाथा में एक जिज्ञासा शान्त की और एक प्रश्न खड़ा किया। जैसे – सर्वप्रथम हमारे मन में प्रश्न उठता है कि –

शंका ☞ इस ग्रन्थ में आचार्यदेव क्या वर्णन करेंगे?

समाधान मिला ☞ समयप्राभृत।

फिर प्रश्न उठा ☞ समयप्राभृत कहते किसे हैं?

समाधान ☞ स्वसमय को।

प्रश्न स्वसमय किसे कहते है?

समाधान ☞ जो दर्शन–ज्ञान–चारित्र में स्थित हो, उसे स्वसमय कहते हैं।

शंका ☞ स्वसमय में रहने से लाभ क्या है?

समाधान ☞ स्वसमय सुखकर है और विसंवाद से बचाने वाला है।

शंका ☞ बंधकथा कैसे सुलभ है और उसका फल क्या है?

समाधान ☞ बंधकथा अनुभूतिगम्य होने से सुलभ है और उससे आगामी कर्म बंध होता है।

शंका ☞ एकत्व–विभक्त आत्मा को जानना सुलभ क्यों नहीं है? वे सुलभ कैसे होगी? उसका स्वरूप क्या है? उसके पर्यायवाची नाम क्या हैं?

समाधान ☞ एकत्व–विभक्त आत्मा के बारे में आज तक कुछ सुना नहीं, समझा नहीं, जाना नहीं, पहचाना नहीं, अनुभव नहीं किया; अतः इनकी कथा सुलभ नहीं लगती, दुर्लभ लगती

है। उनसे अपरिचय ही उनकी दुर्लभता का कारण है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से वह दुर्लभ नहीं रहेगी, सुलभ हो जाएगी।अतः इनका स्वरूप ही इस ग्रन्थ में विस्तार से बताएँगे।

समयप्राभृत, शुद्धात्मा, दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित आत्मा, स्वसमय, एकत्व-विभक्त आत्मा - यह सभी पर्यायवाची हैं।

सामान्य तौर पर प्रतिज्ञा वाक्य ग्रन्थ के आरंभ में आता है। जैसा कि इस ग्रन्थ के आरंभ में भी आया है; किन्तु यहाँ पुनः प्रतिज्ञा करना ही यह बताता है कि सम्यग्दृष्टि संक्षिप्तरुचि शिष्यों के लिए समयसार की इतनी गाथाएँ ही पर्याप्त हैं। यहाँ से लेकर आत्मख्याति की १८ गाथाओं तक और तात्पर्यवृत्ति में उपलब्ध अतिरिक्त ३ गाथा मिलाकर कुल २१ गाथाओं में मध्यमरुचि शिष्यों के लिए कुछ विस्तार से चर्चा करनेवाले हैं।

तत्पश्चात् १९ गाथा से ४३७ गाथाओं तक अतिविस्तार में समझनेवाले अत्यंत अप्रतिबुद्ध शिष्यों के दृष्टिकोण से शुद्धात्मा का स्वरूप समझाया गया है।

इसके पश्चात् ६वीं गाथा में एकत्व-विभक्त आत्मा अर्थात् शुद्ध-आत्मा (शुद्धात्मा) का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

●

गाथा 6

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो ।
एवं भणंति सुध्दं णादो जो सो दु सो चेव ।।६।।

पदविच्छेद → च +एव।

शब्दार्थ → जो = जो; दु = यह; जाणगो भावो = ज्ञायकभाव है अर्थात् ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान है; सो = वह; अप्पमत्तो = अप्रमत्त (अर्थात् अंत के आठ गुणस्थान); वि = भी; ण = नहीं; होदि = है; च = और; पमत्तो = प्रमत्त भी (अर्थात् प्रारंभ के छः गुणस्थान); ण = नहीं है; एवं = इसप्रकार (उसे); सुध्दं = शुद्धं; भणंति = कहते हैं; णादो = ज्ञाता, शुद्धात्मा ; सो = वह; दु = तो; सो एव = वह ही (वही) है।

संदर्भ → इस गाथा में आत्मा को शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों से भिन्न बताते हुए कहा गया है कि -

अर्थ → जो एक ज्ञायकभाव है, वह अप्रमत्त भी नहीं है और प्रमत्त भी नहीं है; इसप्रकार इसे 'शुद्ध' कहते हैं तथा जो ज्ञाता है, शुद्धात्मा है। वह तो वही है अर्थात् वह ज्ञाता ही है, ज्ञायकभाव ही है, शुद्धात्मा ही है।

व्याख्या → इस गाथा में एकत्व-विभक्त आत्मा को ही ज्ञायकभाव नाम से संबोधित किया गया है।

ज्ञायकभाव अर्थात् जानने वाला भाव!

आत्मा का जानने वाला भाव ज्ञान है; अतः 'ज्ञायकभाव' आत्मा के ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान; जानना, जानना, जानना रूप शुद्ध आत्मस्वभाव को बताता है। दृष्टि के विषय में यह अभेद रूप ज्ञायकभाव ही ज्ञात होता है; अनुभूति में आता है।

यहाँ विशेष बात ध्यान रखने की यह है कि 'ज्ञायकभाव' का अर्थ भी हम अपने 'माइंड सेट' के कारण जानने वाला ही समझते हैं। चूंकि 'जानने वाला' कहने में 'भेद' खड़ा हो जाता है और वह 'भेद दृष्टि' का विषय नहीं है । अतः यहाँ ज्ञायक न कहकर ज्ञायकभाव कहा है । संक्षेप में हम समझ सकते हैं कि

ज्ञायक =जानने वाला और

ज्ञायकभाव = जानना, जानना, जानना ।

उक्त सन्दर्भ में प्रवचन रत्नाकर भाग १ का निम्न अंश दृष्टव्य है -

ज्ञायकभाव त्रिकाल एकरूप स्वभावभावरूप है उसे यहां परमपारिणामिकभाव न कहकर ज्ञायकभाव कहा है, उसका कारण यह है कि पारिणामिकभाव तो सर्व द्रव्यों में है; पर जानना, जानना, जानना - ऐसा जो सामान्यज्ञायकभाव है, वह एक जीव द्रव्य में ही है।

संक्षेप में हम कह सकते है कि यहाँ ज्ञायकभाव का अर्थ - **जानना, जानना, जानना: ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान** है।

आचार्यदेव इस गाथा में द्रव्यदृष्टि से आत्मा का शुद्ध स्वरूप बताते हुए कह रहे हैं कि - शुद्धात्मा न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है, वह तो प्रमत्त-अप्रमत्त पर्यायों से परे बस एक ज्ञायकभाव है। ज्ञायकभाव परद्रव्य और उसके भावों से सर्वथा भिन्न है, पर के साथ इसका कोई संबंध नहीं है; इसी कारण वह पर से भिन्न ज्ञायकभावरूप से ज्ञात होता हुआ, अनुभव में आता हुआ, शुद्ध कहलाता है अर्थात् ज्ञायकरूप से ज्ञात होता हुआ आत्मा ही शुद्धात्मा है।

चूँकि अनुभव में अखण्ड-अभेद आत्मा ही आता है, अतः कहा जाता है कि अनुभूति में आत्मा ज्ञायकरूप से ज्ञात होता है और वह कभी भी ज्ञायकभाव से जड़भावरूप नहीं होता, इसलिए शुद्ध कहलाता है।

यहाँ विशेष बात ध्यान देने की यह है कि **शुभ और अशुभ दोनों ही भाव प्रमत्त भाव हैं** और उनके अभाव में होनेवाले **शुद्ध निर्मलभाव अप्रमत्त भाव हैं।**

१४ गुणस्थानों में प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर छठवें प्रमत्तसंयत तक के गुणस्थान 'प्रमत्त' कहलाते हैं और सातवें अप्रमत्त गुणस्थान से लेकर अयोग केवली गुणस्थान तक अंतिम आठ गुणस्थान 'अप्रमत्त' कहलाते हैं। इसप्रकार इस गाथा में प्रमत्त-अप्रमत्त इन दो शब्दों से सभी गुणस्थानों को ग्रहण किया गया है।

उक्त प्रमत्त-अप्रमत्त पर्यायों से रहित ज्ञायकभाव रूप से अनुभव में आता हुआ आत्मा ही 'शुद्ध' आत्मा है, शुद्धात्मा है।

यह द्रव्य स्वभाव की बात चल रही है। द्रव्य स्वभाव से देखते हैं तो ज्ञायकभाव सदा शुद्ध ही है, परन्तु पर्याय में शुद्धता उसके अनुभव से ही आती है।

यद्यपि परपदार्थों और उसके भावों से भिन्न होने के कारण यह ज्ञायकभाव सदा शुद्ध ही है; तथापि जब तक यह ज्ञायकभाव पर से भिन्नता व स्व से अभिन्नता को अपने श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का विषय नहीं बनाता, गुणभेद और प्रदेशभेद रहित अखण्डरूप से अनुभूति में नहीं आता; तब तक उसके शुद्ध होने का लाभ पर्याय में प्राप्त नहीं होता। आत्मा के शुद्ध होने का

लाभ उसे ही प्राप्त होगा, जो उसे शुद्ध जानेगा। जैसे- किसी के पास रफ डायमंड है; पर उस डायमंड की कीमत का लाभ उसे ही मिलेगा जो उसे डायमंड (हीरा) जानेगा। अतः कहा गया है कि ज्ञायकभाव परभावों से भिन्न उपासित होता हुआ, अनुभूति में आता हुआ **शुद्ध** कहलाता है।

द्रव्य दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञायक ज्ञायक ही है और पर्याय दृष्टि से देखा जाए तो मलिन ही दिखाई देता है, जैसे - जीव पुद्गलकर्म के निमित्त से रागादि रूप मलिन ही दिखाई देता है। द्रव्यदृष्टि से देखें तो ज्ञायकत्व तो ज्ञायकत्व ही है, वह कहीं जड़त्व को प्राप्त नहीं हुआ है। द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, अभेद है, निश्चय है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है। इसलिए आत्मा ज्ञायक ही है, उसमें भेद नहीं है।

ज्ञानादि गुणों के अखण्ड पिण्डरूप आत्मा को ही ज्ञायकभाव कहते हैं। यद्यपि आत्मा में अनंत गुण हैं; तथापि ज्ञायकभाव ऐसा विशेष गुण है, जो जानने का काम तो करता ही है; उसका स्वरूप भी स्पष्ट करता है, आत्मा की पहचान का चिन्ह भी बनता है और अन्य द्रव्य से भिन्न भी करता है। जैसे - जीव-अजीव की पहचान करते समय हम यही कहते हैं कि जो जानता है, जिसमें ज्ञान है; वह जीव है और जो जानता नहीं है, जिसमें ज्ञान नहीं है; वह अजीव है। यहाँ जीव की पहचान ज्ञान से की गयी है, जानने से की गयी है; क्योंकि यही त्रिकाली ध्रुव स्वभावरूप भाव होने से आत्मा के साथ अनादि से है और अनन्त काल तक रहेगा। इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं, यह तो स्वतः ही सिद्ध है।

ज्ञायकभाव आत्मा का असाधारण भाव है। इसी को जानने का नाम परमशुद्धनिश्चयनय है। यही दृष्टि का विषय है। इसे ही इस गाथा में 'ज्ञायकभाव' कहा गया है।

ज्ञायकभाव त्रिकाल एकरूप स्वभावभावरूप है। यद्यपि यही आत्मा परमपारिणामिक भावरूप है; तथापि उसे यहाँ परमपारिणामिकभाव न कहकर ज्ञायकभाव कहा है। उसका कारण यह है कि पारिणामिकभाव तो सर्व द्रव्यों में है; पर जानना, जानना, जानना – ऐसा जो सामान्य ज्ञायकभाव है, वह एक जीव द्रव्य में ही है । वह ज्ञायकभाव अप्रमत्त नहीं है तथा प्रमत्त भी नहीं है। इसप्रकार इसे शुद्ध कहा है।

सभी परद्रव्य, परद्रव्य के भाव तथा कर्म के उदयादि का लक्ष्य छोड़कर जब दृष्टि ज्ञायक त्रिकाली पर गई, तब परिणति शुद्ध हुई । इस शुद्ध परिणमन में ज्ञायक शुद्ध है, ऐसा जाना – इसी को शुद्ध है, ऐसा कहा । खाली शुद्ध है, शुद्ध है ऐसा कहने मात्र से कुछ नहीं होता, इस ज्ञायकभाव को जानना, अनुभवना, यह जैन दर्शन का सार है।

'जो ज्ञायकपने जाना – वह तो वही है, दूसरा कुछ नहीं'। यहाँ ज्ञायक को जानने वाली पर्याय की बात की है। ज्ञायक को जानने वाली पर्याय ज्ञायक की स्वयं की है, इस पर्याय का कर्ता वह स्वयं ही है।

यह ज्ञायकभावरूप आत्मा मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं। यह अपने ही आत्मा की, अपने आत्मस्वभाव की बात है। अपने इसी आत्मस्वभाव में लीन होने का नाम **आत्मध्यान** है। इसमें ही

लगातार अन्तर्मुहूर्त तक लीन रहने से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। मुक्तिमार्ग का मूल आधार यही ज्ञायकभाव है, अतः यही एकमात्र परम उपादेय है।

यह ज्ञायकभाव ज्ञायकभावरूप ही रहता है, अन्यरूप परिणमित नहीं होता अर्थात् अपने में एकता है और पर से भिन्नता है। अपने में रहना, पर में रंचमात्र नहीं रहना, भिन्न रहना – यही इसकी शुद्धता है। इसे ही 'शुद्धात्मा' कहते हैं। इसी शुद्धात्मा की अपनेपन से अनुभूति सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की अनिवार्य आवश्यकता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इस गाथा में आत्मा को निम्न कारणों से शुद्ध कहा गया है:-

(१) परद्रव्यों से भिन्न अनुभूति में आता हुआ शुद्ध कहा गया है।

(२) परभावों से भिन्न अनुभूति में आता हुआ शुद्ध कहा गया है।

(३) प्रमत्त-अप्रमत्त पर्यायों से भिन्न अनुभूति में आता हुआ शुद्ध कहा गया है।

(४) ज्ञायकभाव से ज्ञात होता हुआ शुद्ध कहा गया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में शुद्ध-आत्मा में प्रमत्त-अप्रमत्त पर्यायों का निषेध किया गया है और इसके पश्चात् गाथा ७ में गुणभेद का भी निषेध किया जा रहा है।

●

गाथा 7

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं ।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ।।७।।

पदविच्छेद → ववहारेण+उवदिस्सदि ।

शबदार्थ → णाणिस्स = ज्ञानी (आत्मा) के; णाणं = ज्ञान; दंसणं = दर्शन; चरित्त = चारित्र; ववहारेण = अनुपचरितसद्भूतव्यवहार नय से; उवदिस्सदि = कहे जाते हैं; ण = नहीं; वि = भी; ण णाणं = ज्ञान नहीं है; ण दंसणं = दर्शन नहीं है; ण वि चरित्तं = चारित्र भी नहीं है; जाणगो = (ज्ञानी तो) ज्ञायक; सुद्धो = शुद्ध है।

संदर्भ → आत्मा की शुद्धता का दूसरा कारण बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि -

अर्थ → ज्ञानी आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्र यह तीन भाव व्यवहार से कहे जाते हैं। शुद्ध निश्चयनय से ज्ञान भी नहीं है, दर्शन भी नहीं है और चारित्र भी नहीं है; ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।

व्याख्या → इस गाथा में गुणभेद का भी निषेध करते हुए 'ज्ञायकभाव' को शुद्ध कहा गया है। इसमें 'अभेद सो निश्चय, भेद सो व्यवहार' - निश्चय-व्यवहार की इस परिभाषा को मुख्य रखते हुए 'गुणभेद' को व्यवहार कहा है। समझाने की दृष्टि से अभेद आत्मा में गुणों के भेद के आधार पर भेदरूप कथन व्यवहार कथन कहलाते हैं, पर निश्चयनय से आत्मा गुणभेद से रहित अनन्त गुणों का अखण्डपिण्ड है।

जिसप्रकार एक ही व्यक्ति को भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से बेटा, पति, पिता कहा जाता है; पर मूलतः वह व्यक्ति एक ही होता है, तीन नहीं। उसीप्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुणों के विषयभेद के कारण आत्मा को भी अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय से ज्ञान, दर्शन, चारित्र - तीन प्रकार का कहा जाता है, पर वस्तुतः निश्चयनय से तो आत्मा एक ही रहता है; क्योंकि ज्ञानादि गुणों के अखण्डपिण्डरूप आत्मा को ही ज्ञायकभाव कहते हैं।

ज्ञान आत्मा, दर्शन आत्मा, चारित्र आत्मा- ऐसे भेद ज्ञायक में नहीं है। ज्ञायक तो अभेद मात्र है। यह गुणभेद तो हमने समझने के लिए किए हैं।इसप्रकार हम देखते हैं कि आत्मा में गुण हैं, पर गुणभेद नहीं; क्योंकि गुणी आत्मा गुणभेद को नहीं छूता।

यहाँ ध्यान देने योग्य विशेष बात यह है कि इस गाथा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुणों का निषेध नहीं किया गया है; अपितु उनके भेद को, गुणभेद को अशुद्धि का जनक बताया गया है; क्योंकि भेद में जाने से विकल्पों की उत्पत्ति होती है। अतः अनुभूति के विषयभूत ज्ञायकभाव में गुणभेद का निषेध किया गया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेद को भी अशुद्धि कहा जा रहा है। चूँकि अभेद द्रव्य में भेद किया जाता है, अतः भेददृष्टि को व्यवहार कहा जा रहा है। भेददृष्टि में निर्विकल्प दशा नहीं होती और राग उत्पन्न होता रहता है, इसलिए जब तक रागादि दूर नहीं हो जाते, तब तक भेद को गौण करके अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव करने को कहा जा रहा है।

संक्षेप में कहें तो भेदरूप व्यवहारनय से विषयभेद की अपेक्षा आत्मा में ज्ञान-दर्शन-चारित्र ये तीन भाव कहे जाते हैं; किन्तु अभेदरूप निश्चयनय से आत्मा में यह गुणभेद नहीं है, वह तो शुद्ध चैतन्यरूप मात्र शुद्ध ज्ञायक ही है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आत्मा निम्न तीन कारणों से शुद्ध कहलाता है:-

१) परभावों से भिन्न अनुभूति में आता हुआ शुद्ध कहलाता है। (गाथा ६)

२) प्रमत्त-अप्रमत्त पर्यायों से भिन्न अनुभूति में आता हुआ शुद्ध कहलाता है। (गाथा ६)

३) गुणभेद से भिन्न अनुभूति में आता हुआ शुद्ध कहलाता है। (गाथा ७)

ऐसे शुद्धात्मा को ही छठवीं-सातवीं गाथाओं में 'ज्ञायकभाव' कहा गया है। यही शुद्धात्मा का स्वरूप है अर्थात् परभावों से भिन्न, प्रमत्त-अप्रमत्त पर्यायों से भी भिन्न और गुणभेद से भी भिन्न ज्ञान आदि गुणों के अखण्डपिण्ड ज्ञायकभाव को ही 'शुद्धात्मा' कहते हैं।

यद्यपि उक्त दोनों ही गाथाओं में शुद्धात्मा का, शुद्ध ज्ञायकभाव का स्वरूप बताया गया है, तथापि दोनों गाथाओं के दृष्टिकोण में अन्तर है। जिसे हम निम्न प्रकार देख सकते हैं -

१. छठवीं गाथा में परभावों और प्रमत्त-अप्रमत्त पर्यायों का निषेध किया गया था और इस सातवीं गाथा में गुणभेद का निषेध किया गया है।

२. छठवीं गाथा में प्रमत्त–अप्रमत्त पर्यायों के निषेध द्वारा उपचरित सद्भूतव्यवहारनय और सातवीं गाथा में गुणभेद के निषेध द्वारा अनुपचरित सद्भूतव्यवहार नय का निषेध कर 'ज्ञायकभाव' का स्वरूप समझाया गया है। इसप्रकार इन दोनों गाथा में सद्भूतव्यवहारनय के दोनों भेदों का निषेध हो गया है। टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र ने तो ६वीं गाथा की टीका में 'परद्रव्यों से भिन्न उपासित होता हुआ' कहकर दोनों प्रकार के असद्भूतव्यवहारनय का भी निषेध कर दिया है।

३. पर को और पर्याय को अपना मानने से आत्मा का विभक्तपना खंडित होता है, अतः छठवीं गाथा में पर और पर्यायों से भिन्न कहकर विभक्तपना समझाया जा रहा है और दर्शन– ज्ञान– चारित्र के भेद करने से आत्मा की अखंडता, एकता खंडित होती है; अतः सातवीं गाथा में गुण– भेद का निषेध कर आत्मा की अखंडता और एकता बताई जा रही है।

४. छठवीं गाथा में कहा है कि अनुभव के काल में ज्ञेय–ज्ञायक अभेद हो जाते हैं और सातवीं गाथा में कहा है कि अनुभव के काल में ज्ञान, दर्शन आदि गुण भी अभेदरूप अनुभव में आते हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अनुभूति के समय चारों प्रकार के व्यवहारनय के विकल्पों का निषेध किया गया है।

यद्यपि दोनों गाथाओं में दृष्टिकोण के अन्तर के कारण उनकी विषयवस्तु में अन्तर है; तथापि दोनों ही गाथाएँ ध्यान के ध्येयरूप, दृष्टि के विषयरूप, परमशुद्धनिश्चयनय और

परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत शुद्धज्ञान स्वभाव के स्वरूप को ही बताती हैं । अतः ये दोनों ही समयसार की आधारभूत गाथाएँ हैं। इन दोनों गाथाओं में समयसार का सार आ गया है।

इसप्रकार नयों के द्वारा आचार्यदेव ने कह दिया है कि जब दर्शन-ज्ञान-चारित्र में भेद कथन भी व्यवहार है तो उन्हें भिन्न-भिन्न ग्रहण करने की तो बात ही दूर रहो। अभेद शुद्ध ज्ञायक का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है, मुक्ति का कारण है।

प्रवचनसार गाथा ६ में तो उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि दर्शन-ज्ञान सहित चारित्र से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान के बिना सम्यक्चारित्र होता ही नहीं है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा की प्रथम पंक्ति में भेद रत्नत्रय की मुख्यता से और द्वितीय पंक्ति में अभेद रत्नत्रय की मुख्यता से कथन किया गया है।

इस गाथा में निश्चय-व्यवहार का नाम निर्देश और दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सामान्य कथन किया गया है।

यह समयसार का **दूसरा पड़ाव** है; क्योंकि कुछ सजग श्रोता इन गाथाओं से अपनी भ्रांतियों को दूर कर मुक्ति मार्ग पर बढ़ सकते हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सातवीं गाथा में आचार्यदेव ने व्यवहारनय की हेयता और निश्चयनय की उपादेयता पर प्रकाश डाला है। अब अगली ८ वीं गाथा में व्यवहारनय की उपादेयता भी बतलाते हैं। ●

गाथा 8

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विना दु गाहेदुं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ।।८।।

पदविच्छेद → सक्कं+अणज्जो; अणज्ज-भासं; परमत्थ+ उवदेसणं+असक्कं ।

शब्दार्थ → जह = जिस प्रकार; अणज्ज = अनार्य को (जो आर्य नहीं है ऐसे मलेच्छ को); अणज्जभासं = अनार्य भाषा के; विना = बिना; गाहेदुं = ग्रहण करवाना (समझाना); सक्कं = संभव; ण = नहीं है; तह = उसी प्रकार; ववहारेण = व्यवहार के; विणा = बिना, परमत्थ = परमार्थ (निश्चय); उवदेसणं = उपदेश, कथन; असक्कं = संभव नहीं है।

संदर्भ → आचार्य कुन्दकुन्द इस गाथा में अभूतार्थ (हेय) व्यवहारनय के कथन की उपयोगिता बताते हुए कहते हैं कि -

अर्थ → जिसप्रकार अनार्य भाषा के बिना अनार्यजन को कुछ भी समझाना संभव नहीं है; उसीप्रकार व्यवहारनय के बिना निश्चयनय का कथन अशक्य है, संभव नहीं है।

व्याख्या → छठवीं-सातवीं गाथाओं में चारों प्रकार के व्यवहारनय के विषय को हेय बताया गया था। यहाँ उन्हीं व्यवहारनय की उपयोगिता बताते हुए कहा जा रहा है कि - जिसप्रकार अन्य भाषा से अनभिज्ञ रूसी को रसियन भाषा के बिना, मराठी को मराठी भाषा के बिना, अनार्य को अनार्य भाषा के बिना समझाया नहीं जा सकता; उसीप्रकार व्यवहार के बिना निश्चय का प्रतिपादन अशक्य है। अतः निश्चय का प्रतिपादक जानकर जिनवाणी में व्यवहार का कथन भी किया गया है।

यद्यपि चारों प्रकार के व्यवहारनय आत्मानुभूति में उपयोगी न होने से अनुसरण करने योग्य नहीं हैं, हेय हैं; तदपि आत्मा को समझाने में उपयोगी होने से और निश्चय का प्रतिपादक होने से जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश दिया गया है। जिस प्रकार म्लेच्छ को म्लेच्छ की भाषा के बिना, बच्चे को बच्चे की भाषा के बिना समझाना संभव नहीं; उसी प्रकार व्यवहार बिना निश्चय को समझाना संभव नहीं। जैसे – जल शब्द से अपरिचित किसी बच्चे को यदि जल-जल ही कहते रहे तो कुछ समझ नहीं आएगा, अतः जल की प्रारंभिक जानकारी के लिए उसे बताएँ कि जो पीते हैं – वह जल है, जो बहता है – वह जल है; तो उसकी समझ में आसानी से आ जाएगा। वैसे ही आत्मा शब्द से अपरिचित किसी व्यक्ति को यदि आत्मा-आत्मा ही कहते रहे तो उसकी समझ में कुछ नहीं आएगा। अतः आत्मा की प्रारंभिक जानकारी के लिए उसे व्यवहार से बताएँ कि जो खाता-पीता है, चलता-फिरता है, सांस लेता है, सुख-दुःख का अनुभव करता है, जानता-देखता है, वह आत्मा है; तो उसकी समझ में आसानी से आ जाता है। इसलिए प्रारंभिक जानकारी और समझाने के लिए तो व्यवहारनय का कथन उचित है, उपादेय है, सत्यार्थ है, भूतार्थ है; किन्तु यदि असद्भूतव्यवहारनय में ही उलझे रहे तो आत्मा का सही स्वरूप समझ में नहीं आता। सद्भूतव्यवहारनय में उलझने पर, भेद में उलझने पर; ज्ञान स्वरूप पर, ज्ञायकभाव पर दृष्टि नहीं जाती। अतः अभेद आत्मा का अनुभव नहीं होता; क्योंकि विकल्पों में उलझे रहने से आत्मानुभूति नहीं होती। उसके लिए तो इन विकल्पों से भी पार होना होगा, विकल्पातीत होना होगा, व्यवहारातीत होना होगा। आत्मा का अनुभव ज्ञायक स्वरूप पर दृष्टि जाने पर ही होता है। चूँकि आत्मानुभूति व्यवहारातीत है, अतः आत्मानुभव की दृष्टि से व्यवहार हेय है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है।

इसलिए सातवीं गाथा में व्यवहारनय के निषेधपूर्वक निश्चय की स्थापना की गयी है, उपादेयता बतलायी गयी है और इस गाथा में निश्चयनय के प्रतिपादक के रूप में व्यवहार की भी कथंचित् उपयोगिता बतलायी गयी है।

संक्षेप में कहें तो व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है; क्योंकि आत्मा को समझाने रूप अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए किन्हीं-किन्हीं को कभी-कभी वह उपयोगी है।

इसके पश्चात् निश्चयनय और व्यवहारनय की उपयोगिता व प्रयोग को ९वीं और १०वीं गाथाओं में दो उदाहरणों द्वारा समझाया गया है।

●

अंतर सांसारिक आनंद और पारमार्थिक आनंद में

उक्त दोनों प्रकार के आनंद को निम्न प्रकार समझ सकते हैं -

1. इंद्रियों से प्राप्त इंद्रिय आनंद ही सांसारिक आनंद कहलाता है।
   आत्मा में अपनेपन का अतीन्द्रिय आनंद ही पारमार्थिक आनंद कहलाता है।
2. मिथ्या दृष्टि का आनंद सांसारिक आनंद है।
   सम्यक् दृष्टि का आनंद पारमार्थिक आनंद है।
3. दु:ख मिश्रित खुशी सांसारिक आनंद है।
   दु,:ख रहित खुशी पारमार्थिक आनंद है।
4. इंद्रिय आनंद दुःखरूप है।
   अतीन्द्रिय आनंद सुखरूप है।
5. इंद्रिय आनंद का फल दुःखदायी है।
   अतीन्द्रिय आनंद का फल सुखदायी है।

(To be continued on page no. 68)

गाथा 9

जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुध्दं ।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ।।९।।

पदविच्छेद → सुदेण+अहिगच्छदि; अप्पाणं+इणं; सुदकेवलिं+इसिणो; लोयप्प-दीवयरा ।

शब्दार्थ → जो = जो (जीव); हि = निश्चय से; सुदेण = श्रुतज्ञान के द्वारा, भावश्रुत रूप स्व-संवेदन ज्ञान से; इणं = इस; केवलं = केवल; सुध्दं = रागादि रहित; अप्पाणं = आत्मा को; अहिगच्छदि = सबप्रकार से जानते हैं; तं = उसे; लोयप्प = लोक के; दीवयरा = ज्ञाता; इसिणो = परम ऋषि अरहंत देव; सुदकेवलिं = (निश्चय) श्रुतकेवली; भणंति = कहते हैं।

संदर्भ → निश्चयश्रुतकेवली का स्वरूप बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि -

अर्थ → जो जीव श्रुतज्ञान के द्वारा रागादि रहित केवल आत्मा को सबप्रकार से जानते हैं, अनुभव करते हैं; उसे लोक के ज्ञाता परमऋषि अरहंत देव निश्चयश्रुतकेवली कहते हैं।

व्याख्या → इस गाथा में निश्चयश्रुतकेवली का स्वरूप बताते हुए कहा है कि जो भावश्रुतरूप स्वसंवेदन ज्ञान (आत्मानुभूति) से शुद्धात्मा को जानते हैं, वे निश्चयश्रुतकेवली कहलाते हैं। भावश्रुतरूप स्वसंवेदन ज्ञान अर्थात् निर्विकल्प समाधिरूप साधन से शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं। भावश्रुत, राग रहित, निमित्त रहित और मन के संबंध से भी रहित होता है। अतः स्पष्ट है कि आत्मानुभवी ही निश्चयश्रुतकेवली हो सकते हैं तथा निश्चयश्रुतकेवली नियम से द्वादशांग श्रुत के पाठी भी होते हैं। जैसा कि अगली गाथा से स्पष्ट है।

इसके पश्चात् १०वीं गाथा में व्यवहारश्रुतकेवली का स्वरूप बताया गया है।

●

गाथा 10

जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा ।
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुदकेवली तम्हा ।।१०।।

पदविच्छेद → तं+आहु ।

शब्दार्थ → जो = जो; सव्वं = सम्पूर्ण; सुदणाणं = द्रव्य श्रुतज्ञान को; जाणदि = जानते हैं; तं = उन्हें; जिणा = जिनदेव; सुदकेवलिं = (व्यवहार) श्रुतकेवली; आहु = कहते हैं; जम्हा = जिससे (क्योंकि); सव्वं = सब; णाणं = ज्ञान; अप्पा = आत्मा (ही है); तम्हा = उससे (इसलिए वह जीव); सुदकेवली = श्रुतकेवली है।

संदर्भ → व्यवहारश्रुतकेवली का स्वरूप बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि –

अर्थ → जो द्वादशांगरूप सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत को जानते हैं, उन्हें जिनदेव व्यवहारश्रुतकेवली कहते हैं; क्योंकि सब ज्ञान आत्मा ही तो है। इसलिए वह जीव श्रुतकेवली है।

व्याख्या → इस गाथा की प्रथम पंक्ति में व्यवहारश्रुतकेवली का स्वरूप बताते हुए कहा है कि – जो द्वादशांगरूप बाह्य सम्पूर्ण श्रुतज्ञान को जानते हैं, वे **व्यवहारश्रुतकेवली** कहलाते हैं। व्यवहारश्रुतकेवली नियम से आत्मानुभवी होते हैं।

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि जो श्रुतज्ञान से केवल शुद्धात्मा को ही जानते हैं, वही **निश्चयश्रुतकेवली** हैं तथा जिसने श्रुतज्ञान से द्वादशांग को जाना वह **व्यवहारश्रुतकेवली** हैं।

इस गाथा की दूसरी पंक्ति में कहा है कि – सर्वश्रुतज्ञान भी ज्ञान ही होने से आत्मा ही है। जिसप्रकार मात्र चीनी से निर्मित मिठाईयों में मिठास मीठेपन (चीनी) की ही पर्याय होने से वे मीठेपन के ही प्रकार (भेद) है। मिठास गुण, गुणी चीनी में ही रहता है; अतः सभी मिठाइयों के विभिन्न रूप चीनी ही हुई। इसप्रकार निश्चय से तो जिसने मिठाई खाई, उसने चीनी ही खाई है। उसीप्रकार ज्ञान आत्मा ही है; अतः सर्वश्रुतज्ञान भी आत्मा ही हुआ।

दूसरी बात ज्ञान की पर्याय सर्व पर को जानती है, तो भी वह सर्व पर की नहीं है; क्योंकि पर के साथ उसका तादात्म्य संबंध नहीं है। सर्व ज्ञेयों को जानते हुए भी ज्ञान ज्ञेय का नहीं है, ज्ञान आत्मा का ही है। जैसे– दर्पण के सामने हम, तुम आदि जो भी हो, वह हूबहु (जैसा है वैसा) दिखता है। जो दिखता है वह हम, तुम नहीं है। परंतु वह तो दर्पण की अवस्था है। इस तरह आत्मा के ज्ञान की अवस्था में परज्ञेय ज्ञात होते हैं, परंतु जो ज्ञात होते हैं, वह परज्ञेय नहीं है; वह तो आत्मा के ज्ञान की अवस्था है। इससे जो ज्ञेय को जानने वाली ज्ञान की पर्याय है, वह ज्ञेय की नहीं है, परंतु आत्मा की है। वह पर्याय ऐसा ज्ञान कराती है कि– यह जो ज्ञान है वह आत्मा है, यह जो जानने वाला है; वह आत्मा है। इसलिए यह सहज ही सिद्ध हो गया कि सर्वश्रुतज्ञान भी आत्मा ही है।

ऐसा सिद्ध होने पर यह पारमार्थिक तथ्य सहज ही फलित हो गया कि **जो आत्मा को जानता है, वही श्रुतकेवली है।**

श्रुतज्ञान का अधिकतम विकास द्वादशांग का पाठी होना ही है; इस कारण ही उसे यहाँ सर्वश्रुत कहा है। 'जो आत्मा सर्वश्रुत को जानता है, वह श्रुतकेवली है' – का अर्थ यह हुआ कि जिस आत्मा का श्रुतज्ञान पूर्णतः विकसित हो गया है, वह श्रुतकेवली है।

पूर्ण विकसित श्रुतज्ञान में स्व-पर सभी द्रव्य श्रुतज्ञान के विषय बनते हैं। अत: यह सुनिश्चित हुआ कि सर्वश्रुत को जाननेवाले श्रुतकेवली ने सभी को जाना है। उसके इस सर्वज्ञान में स्व को जानने के कारण वह **निश्चयश्रुतकेवली** कहा जाता है और द्वादशांगरूप पर को जानने के कारण वह **व्यवहारश्रुतकेवली** कहलाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि – निश्चयश्रुतकेवली और व्यवहारश्रुतकेवली अलग-अलग व्यक्ति नहीं होते हैं, श्रुतकेवली तो एक ही होते हैं और वह द्वादशांग के पाठी और आत्मानुभवी ही होते हैं। आत्मानुभवी होने के कारण उन्हें ही निश्चयश्रुतकेवली कहते हैं और द्वादशांग के पाठी होने के कारण उन्हें ही व्यवहारश्रुतकेवली कहते हैं। ये दोनों ही नय एक साथ एक ही समय में एक ही व्यक्ति पर घटित होते हैं, अन्य-अन्य व्यक्तियों पर नहीं, अन्य-अन्य समय पर भी नहीं। जो व्यक्ति जिस समय आत्मा को जानने के कारण निश्चयश्रुतकेवली है; वही व्यक्ति उसी समय द्वादशांगरूप श्रुत का विशेषज्ञ होने के कारण व्यवहारश्रुतकेवली भी है। इसीप्रकार जो व्यक्ति जिस समय द्वादशांग का पाठी होने से व्यवहारश्रुतकेवली है, वही व्यक्ति उसी समय आत्मज्ञानी होने से निश्चयश्रुतकेवली भी है। उसमें न व्यक्तिभेद है और न समयभेद ही।

निश्चय और व्यवहार श्रुतकेवली चौथे से बारहवें गुणस्थान तक ही होते हैं, उसके पहले नहीं; क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव न तो द्वादशांग के पाठी ही होते हैं और न स्वसंवेदन ज्ञानी ही। यद्यपि मनुष्य गति में द्वादशांग के पाठी छठवें गुणस्थानवर्ती आत्मानुभवी मुनिराज ही होते हैं, तथापि देव गति में चौथे गुणस्थानवर्ती सौधर्मादि इन्द्र, लोकांतिकदेव एवं सर्वार्थसिद्धि आदि के अहमिन्द्र भी द्वादशांग के पाठी और आत्मानुभवी होते हैं।

संक्षेप में कह सकते हैं कि ज्ञान और ज्ञानी के भेद से कथन करनेवाला जो व्यवहार है उससे भी मात्र परमार्थ ही कहा जाता है, अन्य कुछ नहीं। अतः व्यवहार कथन परमार्थ का ही प्रतिपादक है।

दूसरी बात आत्मा द्रव्य है और सर्वश्रुतज्ञान उसी आत्म द्रव्य की पर्याय है; अतः सर्वश्रुतज्ञान भी प्रकारांतर से आत्मा ही है। इसलिए सर्वश्रुतज्ञान को जानने वाले व्यवहार ज्ञान ने भी प्रकारांतर से आत्मा को ही बताया है। अतः इस दृष्टि से भी व्यवहार परमार्थ का ही प्रतिपादक रहा।

इसके पश्चात् जयसेनाचार्य की तात्पर्यवृत्ति टीका में दो गाथायें हैं जिसकी पहली गाथा में आत्मा की भावना भाने की आज्ञा दी गयी है।

●

6. अनिद्रिय आनंद आनंद का प्रारंभ है।

अनंत आनंद, आनंद कि पूर्णता है और इंद्रिय आनंद, आनंद का आभास मात्र है।

जब तक संसार में सुख का आभास होता रहेगा, तब तक सही आनंद की खोज ही आरंभ नहीं होगी। जब दुःखों का एहसास होगा तब आनंद की खोज आरंभ होती है।

(To be continued on page no. 74)

तात्पर्यवृत्ति गाथा 1 /11

णाणम्हि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य ।
ते पुण तिण्णिवि आदा तह्मा कुण भावणं आदे ।।१।।

पदविच्छेद → तिण्णि-वि।

शब्दार्थ → णाणम्हि = ज्ञान में; दंसणे = दर्शन में; य = और; चरित्ते = चारित्र में; खलु = दृढ़ता से; भावणा = भावना; कादव्वा = करनी चाहिए; पुण = क्योंकि; ते = वे; तिण्णि=तीनों; वि = भी; आदा = (अभेदनय) से एक आत्मा ही हैं; तह्मा = इसलिए; आदे = आत्मा में; भावणं = भावना; कुण = करो।

संदर्भ → इस गाथा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकतारूप स्वसमय में स्थित रहने की प्रेरणा देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि-

अर्थ → सभी को ज्ञान, दर्शन और चारित्र की भावना करना चाहिए; क्योंकि ये तीनों अभेदनय से आत्मा ही हैं। अतः आत्मा की ही भावना करो।

व्याख्या → दूसरी गाथा में आचार्यदेव ने बताया था कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होता है, उसे स्वसमय कहते हैं। अब इस गाथा में उसी स्वसमय में स्थित रहने की प्रेरणा दी गयी है। साथ ही साथ एक बार पुनः याद दिलाते हुए कहा है कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होना कहो या आत्मा में स्थित होना कहो एक ही बात है; क्योंकि दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होना भेद कथन है, व्यवहार कथन है और आत्मा में स्थित होना अभेद कथन है, निश्चय कथन है।

इसप्रकार इस गाथा में अभेद रत्नत्रय की भावना भाने की, स्वसमय में स्थित होने की प्रेरणा दी गई है।

इसके पश्चात् तात्पर्यवृत्ति की दूसरी गाथा में अभेद रत्नत्रय की भावना भाने का फल अर्थात् सर्व दुःखों से मुक्त होने का उपाय बताया गया है। ●

तात्पर्यवृत्ति गाथा 2 /12

जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ।।२।।

पदविच्छेद → आद-भावणं+इणं, णिच्चुव-जुत्तो, सव्व-दुक्ख-मोक्खं

शब्दार्थ → जो = जो; इणं = इस; आद = आत्म; भावणं = भावना में; णिच्चुव = निरन्तर; जुत्तो = युक्त होता हुआ; समाचरदि = सम्यक् आचरण करता है अर्थात् आत्मभावना में लीन होता है; सो = वह; मुणी = मुनि; अचिरेण = थोड़े ही; कालेण = काल में; सव्व = सभी; दुक्ख = दुखों से; मोक्खं = मुक्ति को; पावदि = प्राप्त करता है।

संदर्भ → इस गाथा में स्वसमय में स्थित होने का फल बताते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि -

अर्थ → जो मुनि इस आत्मभावना में नित्य युक्त होता हुआ आचरण करता है अर्थात् आत्मा में लीन होता है, वह मुनि शीघ्र ही सर्व दुःखों से मुक्त हो जाता है।

व्याख्या → दूसरी गाथा में आचार्यदेव ने बताया था कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होता है, उसे स्वसमय कहते हैं और इस गाथा में उसी में लीन होने का फल बताया गया है। इस गाथा में विशेषकर मुनियों की अपेक्षा कथन किया गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय कुछ मुनि आत्मलीनता से विमुख होकर व्यवहार क्रियाओं में अधिक उलझने लगे होंगे। उनको दृष्टि में रखकर ही इस गाथा में स्पष्ट कहा है कि जो मुनि आत्मा में लीन होते हैं; वे शीघ्र सब दुःखों से मुक्त हो जाते हैं।

प्रकारांतर से आचार्यदेव यह भी बताना चाहते हैं कि मुनियों को भी आचार्य अवस्था, उपदेश अवस्था से नहीं; आत्मध्यान से ही संपूर्ण दु:खों से मुक्ति मिलेगी।

यह दोनों गाथायें जयसेनाचार्य की टीका में ही उपलब्ध होती हैं। मानो आचार्य कुन्दकुन्द इतना ही लिखकर, संक्षेप में अपने विद्वान मुनि शिष्यों को समझाकर विराम लेना चाहते हों और उसी समय किसी अल्पज्ञ शिष्य ने कहा हो – आचार्यवर! हम कुछ विस्तार से जानना चाहते हैं; तो विस्तार रुचि शिष्यों को ध्यान में रखकर आगे पुनः इस ग्रन्थ का विस्तार किया गया है। जैसा कि आचार्य जयसेन गाथा १३ की टीका में यह भाव व्यक्त करते हुए कहते हैं कि –

''अथ कश्चिदासन्नभव्यः पीठिकाव्याख्यानमात्रेणैव हेयोपादेयतत्त्वं परिज्ञाय विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं निजस्वरूपं भावयति। विस्ताररुचिः पुनर्नवभिरधिकारैः समयसारं ज्ञात्वा पश्चाद् भावनां करोति। तद्यथाविस्ताररुचिशिष्यं प्रति जीवादिनवपदार्थाधिकारैः समयसारव्याख्यानं क्रियते।''

अर्थात् अब कोई निकट भव्य जीव पीठिका के व्याख्यान मात्र से ही हेय-उपादेय तत्त्व को जानकर विशुद्धज्ञान-दर्शन स्वभावमय निजस्वरूप की भावना करता है; परन्तु विस्तार रुचिवाला शिष्य नव अधिकारों द्वारा समयसार को जानकर पश्चात् भावना करता है। वह इसप्रकार है – विस्तार रुचिवाले शिष्य को समझाने के लिए जीवादि नवपदार्थ अधिकारों के द्वारा समयसार का व्याख्यान किया जाता है।

संक्षेप में हम कहें तो यह दोनों गाथायें अभी तक कही गयी गाथाओं के उपसंहाररूप गाथाएँ हैं, निष्कर्षरूप गाथाएँ हैं। अतः यह समयसार का **तीसरा पड़ाव** हो सकता है।

इसके पश्चात् ११वीं गाथा में निश्चयनय और व्यवहारनय का विशेष कथन किया गया है।

●

गाथा 11/13

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ।।११।।

पदविच्छेद → ववहारो+अभूदत्थो; भूदत्थं+अस्सिदो ।

शब्दार्थ → ववहारो = व्यवहारनय; अभूदत्थो = अभूतार्थ है/असत्यार्थ है; सुद्धणओ = शुद्धनय, निश्चयनय; भूदत्थो = भूतार्थ/सत्यार्थ; देसिदो = कहा गया है; भूदत्थं = भूतार्थ/सत्यार्थ (निश्चयनय) के; अस्सिदो = आश्रय से; खलु = स्पष्ट रूप से; जीवो = जीव; सम्मादिट्ठी = सम्यग्दृष्टि; हवदि = होता है।

संदर्भ → इस गाथा में व्यवहारनय की कथंचित् अनुपयोगिता व निश्चयनय की उपयोगिता और उसके आश्रय का फल बतलाते हुए कहा गया है कि –

अर्थ → व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है – ऐसा कहा गया है। जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है, वह जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि होता है।

व्याख्या → व्यवहारनय का आश्रय क्यों नहीं करना चाहिए? निश्चयनय का आश्रय क्यों करना चाहिए? सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त होता है? सम्यग्दृष्टि किसे कहते हैं? व्यवहार और निश्चयनय में कौनसा नय हेय और कौनसा नय उपादेय है? – आदि सभी शंकाओं के समाधान इस गाथा में उपलब्ध हैं।

व्यवहारनय अभूतार्थ होने से हेय है; अतः उसका आश्रय नहीं करना चाहिए, अनुसरण नहीं करना चाहिए।

निश्चयनय भूतार्थ होने से उपादेय है, अतः उसका ही आश्रय करना चाहिए, अनुसरण करना चाहिए; क्योंकि जो जीव निश्चय का आश्रय लेता है, वही सम्यग्दृष्टि होता है।

संक्षेप में कहें तो सभी प्रकार के व्यवहारनय अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं और एकमात्र शुद्धनय ही भूतार्थ है, सत्यार्थ है।

निश्चयनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, उपयोगी है; क्योंकि उसका विषय अभेद एकाकार रूप नित्य द्रव्य है, जिसके आश्रय करने से जीव सम्यग्दृष्टि होता है, दुःख दूर करने में समर्थ होता है।

व्यवहारनय अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, अनुपयोगी है; क्योंकि उसका विषय अनेकाकाररूप, अनित्य, भेद सहित वस्तु है, जिसके आश्रय करने से जीव मिथ्यादृष्टि रहता है, दुःखी रहता है।

यहाँ विशेष बात ध्यान रखने की यह है कि अभूतार्थ का अर्थ असत्य, झूठ नहीं है अर्थात् अनित्य, भेदरूप वस्तु ही न हो – ऐसा नहीं है। जैसे – किसी माँ का बेटा नालायक हो तो वह कहती है कि – मेरे तो बेटा ही नहीं है। इसका मतलब यह नहीं कि वह निःसंतान है; अपितु यह है कि पुत्र से होनेवाले लाभ और सुख उसे प्राप्त नहीं हैं। अतः उसकी दृष्टि में बेटा है ही नहीं। वैसे ही भेदरूप वस्तु है; पर शुद्धनय, निश्चयनय की दृष्टि में वह भेद दिखाई नहीं देता। अतः उसकी दृष्टि में भेद को अविद्यमान, असत्यार्थ, अनुपयोगी, हेय कहा जाता है।

यदि भेदरूप वस्तु से ही इंकार करेंगे तो हम भी अद्वैत वेदांती के समान एकांती हो जायेंगे; क्योंकि वे भी भेदरूप अनित्य को मायास्वरूप कहते हैं, अवस्तु कहते हैं और अभेद, नित्य, शुद्ध ब्रह्म को वस्तु कहते हैं। जैनदर्शन को ऐसा एकांत स्वीकृत नहीं, वह तो अनेकांतवादी दर्शन है।

इस गाथा में शुद्धनय शब्द का प्रयोग 'परमशुद्धनिश्चयनय' के अर्थ में ही है; क्योंकि अध्यात्म के नयों में एक यही नय ऐसा है, जिसके विषयभूत आत्मद्रव्य में अपनापन होने से सम्यग्दर्शन होता है; अतः वह ही वास्तविक शुद्धनय है, भूतार्थ है; शेष

सभी परमशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार ही हो जाते हैं, अभूतार्थ ही हो जाते हैं, असत्यार्थ ही हो जाते हैं। अतः व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है और परमशुद्धनिश्चयनय कभी अभूतार्थ नहीं होता, सदा भूतार्थ ही रहता है। अतः वह ही अनुसरण करने योग्य है।

संक्षेप में कहें तो सभी प्रकार के व्यवहारनय अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं और एकमात्र परमशुद्धनिश्चयनय ही भूतार्थ है, सत्यार्थ है।

इसके पश्चात् आचार्यदेव १२वीं गाथा में निश्चयनय के साथ-साथ व्यवहारनय की भूतार्थता भी बता रहे हैं। ●

आनंद की खोज

न केवल मनुष्य अपितु संसार के समस्त प्राणी प्रतिसमय आनंद की खोज करते रहते हैं। जब जहाँ उन्हें दु:खों से निवृत्ति होती है, तब वहाँ वे कुछ शांति महसूस करते हैं। उस कम दुःख को वे सुख समझ बैठते हैं; जैसे भूख लगी, तो भोजन मिलने पर किंचित् तृप्ति मिली; खुजली हुई, खुजाने पर कुछ शांति मिली; प्यास लगी, पानी पीने पर संतुष्टि हुई- ऐसे ही हमारे जीवन में छोटे-छोटे पल होते हैं, जिनमें हमें कुछ देर सुकून भी महसूस होता है। उन छोटे-छोटे पलों में हम आनंद अनुभव कर अपने को सुखी समझते हैं। जबकि यह सभी पलभर की संतुष्टि है। इसप्रकार हम जीवनभर आनंद की खोज करते रहते हैं और पलों की तृप्ति में संतुष्ट हो जाते हैं; क्योंकि आनंद अनेक रूपों में हमारे सामने आता है। आनंद के नकली मौखुटे में उलझ हम असली आनंद की ओर कदम ही नहीं बढ़ा पाते हैं ।

चलिए, अब हम देखते हैं; आनंद के उन अनेक रूपों को।

(To be continued on page no.93)

गाथा 12/14

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे ।।१२।।

पदविच्छेद → सुद्ध+आदेसो; ववहार-देसिदा; अपरमे-ट्ठिदा।

शब्दार्थ → परमभावदरसीहिं = शुद्धात्मा का सदा अनुभव करनेवाले ज्ञानियों को; सुद्ध = शुद्ध (आत्मा का); आदेसो = कथन करनेवाला; सुद्धो = शुद्ध निश्चयनय; णादव्वो = जानने योग्य है; पुण = और ; जे दु = जो जीव ; अपरमे भावे = अशुद्ध भाव में अर्थात् साधक अवस्था में ; ट्ठिदा = स्थित ; ववहार = व्यवहार से; देसिदा = समझाने योग्य है।

संदर्भ → निश्चयनय और व्यवहारनय किसके लिये किस रूप में उपयोगी है? यह बताते हुए इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि -

अर्थ → परमभाव में स्थित शुद्धात्मा का सदा अनुभव करनेवाले ज्ञानियों को शुद्धात्मा का कथन करने वाला शुद्धनय जानने योग्य है और जो जीव अपरमभाव में स्थित हैं, वे व्यवहारनय से उपदेश देने योग्य हैं, समझाने योग्य हैं।

व्याख्या → इस गाथा में स्पष्टरूप से कहा गया है कि जो जीव परमभावदर्शी हैं, शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हो गए हैं तथा पूर्ण ज्ञान- चारित्रवान हो गए हैं - ऐसे अरिहंत, सिद्ध भगवान को शुद्धात्मा का कथन करने वाला शुद्धनय जानने योग्य

है; क्योंकि उन्हें अब शुद्धात्मा को आश्रय करने का प्रयोजन नहीं रहा। वे तो शुद्धनय तक पहुँचकर ज्ञानी हो गए हैं। जो जीव अपरमभाव में स्थित हैं, साधक अवस्था में हैं, उन्हें व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं; अत: साधक अवस्था में व्यवहारनय कथंचित् भूतार्थ है।

जिसप्रकार बीमारी से उठे अशक्त व्यक्ति को कमजोरी के कारण चलने-फिरने में लाठी का सहारा लेना पड़ता है; पर उसकी भावना यही रहती है - कब लाठी का आश्रय छूटे? उसी प्रकार आत्मार्थी को प्राथमिक भूमिका में अपनी कमजोरी के कारण व्यवहारनय का सहारा लेना पड़ता है; पर उसकी भावना यही रहती है कि कब व्यवहार का आश्रय छूटे और कब अपने में समा जाऊँ?

इसप्रकार हम देखते हैं कि ११वीं गाथा में व्यवहारनय को अभूतार्थ, असत्यार्थ कहकर उसकी अनुपयोगिता, हेयता स्थापित की थी, किन्तु इस गाथा में व्यवहारनय की उपयोगिता, उपादेयता बताते हुए आचार्यदेव कह रहे हैं कि - जो अपरमभाव में स्थित हैं, श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के पूर्णभाव तक नहीं पहुँच सके हैं, साधक अवस्था में ही स्थित हैं, ऐसे प्राथमिक भूमिका वाले जीवों के लिए व्यवहारनय उपादेय है अर्थात् जब तक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई है अथवा जिन्हें सम्यग्दर्शन तो हो गया है; किन्तु सम्यग्ज्ञान-चारित्र पूर्ण नहीं हुए हैं, सर्वज्ञता की प्रतीति हुई है, किन्तु सर्वज्ञपद प्रगट नहीं हुआ है - ऐसी साधक दशा में जो स्थित हैं, वे व्यवहार द्वारा उपदेश के योग्य हैं।

संक्षेप में कहें तो निर्विकल्प समाधि से रहित प्राथमिक अवस्था वाले जीवों को व्यवहारनय भी प्रयोजनवान होता है। अतः व्यवहारनय कथंचित् अभूतार्थ और कथंचित् भूतार्थ है।

परमभाव और अपरमभाव को निम्न तीन प्रकार से घटित किया जा सकता है, समझा जा सकता है –

१) आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि पुरुष श्रध्दा की अपेक्षा परमभाव में स्थित हैं।अज्ञानी मिथ्यादृष्टि अपरमभाव में स्थित हैं।

२) सप्तमादि गुणस्थानों में स्थितआत्मध्यानी मुनिराज शुद्धोपयोग की अपेक्षा परमभाव में स्थित हैं और चौथे, पाँचवें और छठवें गुणस्थानवर्ती (अविरत सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती और महाव्रती मुनिराज) शुभोपयोग के काल में अपरमभाव में स्थित हैं व शुद्धोपयोग के काल में परमभाव में स्थित होते हैं।

३) तेरहवें गुणस्थान से लेकर आगे सभी अरहंत और सिद्ध परिपूर्ण ज्ञान की अपेक्षा परमभाव में स्थित हैं तथा बारहवें गुणस्थान तक के सभी ज्ञानी और सभी अज्ञानी अल्प ज्ञान की अपेक्षा अपरमभाव में स्थित हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आचार्यदेव ने आठवीं से बारहवीं तक की इन गाथाओं में निश्चय-व्यवहारनय का स्वरूप, उनकी उपयोगिता तथा उनकी भूतार्थता-अभूतार्थता, हेयोपादेयता आदि सभी कुछ बता दिया है।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि ११वीं गाथा में व्यवहारनय को अभूतार्थ बताया गया था एवं इस गाथा में उससे

विपरीत व्यवहारनय को भूतार्थ कहा जा रहा है। अपेक्षा में, दृष्टिकोण में अंतर आने से यह अंतर आ गया है।

यही जैन दर्शन की विशेषता है, अनेकांत दृष्टिकोण है। इस दृष्टिकोण को हम अपने जीवन में उतारेंगे तो हमारा जीवन भी शांतिमय होगा। वस्तुएँ, व्यक्ति तो जैसे हैं; वैसे ही रहते हैं। उन्हें देखने का हमारा दृष्टिकोण ही उन्हें हेय, उपादेय बना देता है; जबकि वे ज्ञेय हैं ।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में जो कुछ कहना चाहते हैं उसे संक्षेप में इन पीठिका रूप १२ गाथाओं में कह चुके हैं। अतः आचार्य जयसेन के अनुसार संक्षिप्त रूचि वालों के लिए समयसार यहीं समाप्त हो जाता है; क्योंकि वे इतने से ही हेयोपादेय तत्वों को जानकर उसमें अपनापन स्थापित कर, मोक्षमार्ग पर चलकर मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

तीक्ष्ण प्रज्ञा के धनी आसन्नभव्य सम्यग्दृष्टि मुनिराज और सम्यग्दृष्टि श्रावक श्रोताओं का काम तो इतने से ही हो जाता है; क्योंकि इतने से ही विशुद्ध ज्ञान- दर्शन की भावना भाने में समर्थ हो जाते हैं। कहा भी है – 'समझदार को इशारा ही काफी होता है।' अतः उन सभी श्रोताओं के लिए यह **चौथा पड़ाव** है।

११वीं गाथा में कहा था कि निश्चयनय का आश्रय लेने वाला जीव सम्यग्दृष्टि होता है। सम्यग्दृष्टि होने के पहले सम्यग्दर्शन का स्वरूप जानना आवश्यक है। अतः इसके पश्चात् १३वीं गाथा से विस्तार रुचि वाले सम्यग्दर्शन के स्वरूप से अनभिज्ञ मिथ्यादृष्टि श्रोताओं को समझाने के लिए सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताते हैं।

●

गाथा 13/15

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ।।१३।।

पदविच्छेद → भूदत्थेण+अभिगदा; जीव+अजीवा; पुण्ण-पावं; आसव-संवर-णिज्जर-बंधो ।

शब्दार्थ → भूदत्थेण = भूतार्थ / निश्चय / शुद्धनय से; अभिगदा = जाने हुए; जीवा= जीव; अजीवा = अजीव; पुण्ण= पुण्य; पावं = पाप; आसव = आस्रव; संवर = संवर; णिज्जर = निर्जरा; बंधो = बंध; च = और; मोक्खो = मोक्ष; य = वे; सम्मत्तं = सम्यग्दर्शन है।

संदर्भ → सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि -

अर्थ → निश्चयनय से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष - ये नव तत्त्व ही सम्यग्दर्शन हैं।

व्याख्या → इस गाथा में भूतार्थनय से जाने हुए नौ तत्वों को सम्यक् दर्शन कहा गया है। भूतार्थनय से नौ तत्वों को जानना अर्थात् नौ तत्वों में सर्वत्र आत्मज्योति को खोजना।

नौ तत्वों में भी सर्वत्र एक आत्मज्योति ही प्रकाशमान है और उसे शुद्धनय से जानना ही भूतार्थनय से जाने हुए नौ तत्व हैं;जिन्हे यहाँ सम्यक्दर्शन कहा गया है।

नौ तत्वों में आत्मज्योति कैसे खोजी जाय?- यही आगे की गाथाओं में विस्तार से वर्णित है। जो नौ तत्वों में छुपी आत्मज्योति को पहचान लेता है, वही ज्ञानी कहलाता है।

इस गाथा में भूतार्थ शब्द निश्चयनय के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त किया गया है। यह कहकर आचार्यदेव कहना चाह रहे हैं कि इस ग्रन्थ में अध्यात्म के नयों के आधार पर नवपदार्थों का वर्णन करूँगा। अध्यात्म के नयों की यह विशेषता है कि यद्यपि उनमें समझाया सभी तत्त्वों को जाता है, पर उनमें एक पार्टी आत्मा होती है अर्थात् सभी तत्त्वों में एक आत्मा को खोजना, देखना भूतार्थनय (निश्चयनय) का कार्य है। जिसप्रकार हम किसी की शादी का एल्बम देखें, पर हम उस एल्बम की प्रत्येक फोटो में अपने को ढूँढ़ते हैं। जहाँ हम होते हैं, वहाँ रुकते हैं, सावधानी से देखते हैं और जिस फोटो में हम नहीं होते, उस फोटो को शीघ्रता से पलट लेते हैं। उसीप्रकार समयसार के प्रत्येक तत्त्व के वर्णन में सर्वत्र आत्मज्योति को ही खोजा गया है, बताया गया है, दर्शाया गया है; क्योंकि इन तत्त्वों में छिपे हुए आत्मा को अपनेपन से जानने का नाम ही **आत्मानुभूति** है। यही कारण है कि इस गाथा में शुद्धनय से जाने गए नवतत्त्वों को ही सम्यग्दर्शन कहा है।

अनादि काल से आत्मा अनेक रूपों में हमारे सामने आता है और हम उन रूपों में अपनापन कर लेते हैं, एकत्व कर लेते हैं। उन रूपों को अध्यात्म के नय में मौटे तौर पर आठ भागों में बाँटा गया है।

अध्यात्म के नय के मूल भेद दो हैं – व्यवहारनय और निश्चयनय। व्यवहारनय भी भेद–प्रभेद मिलाकर चार प्रकार का है और निश्चयनय भी भेद–प्रभेद सहित चार प्रकार का है। उक्त आठों नयों को विस्तार से जानने के इच्छुक जन लेखिका की अन्य कृति 'नयचक्र गाईड' का भी अवलोकन कर सकते हैं। इन आठों नयों की अति संक्षित जानकारी इस पुस्तक के अंत में दी गयी है।

आठों नय हमें 'पर' और 'पर्यायों' से पृथक् त्रिकाली ध्रुव आत्मतत्त्व तक ले जाते हैं।

इस गाथा में नव पदार्थों का जो क्रम रखा गया है, उसी क्रम से इस ग्रन्थ में उनका वर्णन है। यद्यपि पुण्य–पाप का समावेश आस्रव–बंध में हो जाता है; किन्तु पुण्य–पाप के सम्बन्ध में, विशेषकर पुण्य के सम्बन्ध में जनसामान्य में बहुत अज्ञान रहता है। वे पुण्य क्रियाओं को धर्मक्रिया समझकर उपादेय मान लेते हैं, अतः आचार्यदेव ने आस्रव–बंध समझाने के पहले पुण्य–पाप संबंधी अज्ञान दूर करना उचित समझा।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत आत्मा, पर और विकारी–अविकारी पर्यायों से पृथक् शुद्धात्मा ही दृष्टि का विषय है, ध्यान का ध्येय है; यही समयसार का प्रतिपाद्य है। इसे ही कहने की प्रतिज्ञा आचार्यदेव ने मंगलाचरण की गाथा में की थी। इस गाथा में इसी परमशुद्धनिश्चयनय को भूतार्थनय कहा गया है। जैसा कि आगामी गाथा से स्पष्ट है।

इसके पश्चात् १४वीं गाथा में इसी भूतार्थनय का स्वरूप बताया गया है।

●

गाथा 14/16

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं ।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुध्दणयं वियाणीहि ।।१४।।

पदविच्छेद → अबद्ध-अपुट्ठं; अविसेसं-असंजुत्तं।

शब्दार्थ → जो = जो नय; अप्पाणं = आत्मा को; अबद्ध = बिना बंधा अबद्ध; पुट्ठं =बिना छुए अस्पृष्ट; अणण्णयं = जो अन्य-अन्य नहीं है ऐसा; णियदं = नियत (अवस्थित); अविसेसं = विशेषों के बिना अविशेष; असंजुत्तं = संयोग के बिना असंयुक्त; पस्सदि = जानता है, देखता है; तं = उसे; सुध्दणयं = शुद्धनय; वियाणीहि = जानो।

संदर्भ → इस गाथा में आचार्यदेव शुद्धनय का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि -

अर्थ → जो नय आत्मा को अबद्ध, अस्पृष्ट, स्वयं से अनन्य, वृद्धि-हानि से रहित, अपने स्वभाव में नियत, विशेषों के बिना अविशेष और अन्य के संयोग के बिना असंयुक्त देखता है, जानता है; हे शिष्य! तूँ उसे शुद्धनय जान।

व्याख्या → यह गाथा शुद्धनय के विषय को स्पष्ट करने वाली गाथा है।१३वीं गाथा में जिसे भूतार्थनय कहा गया है, उसे ही इस गाथा में शुद्धनय कहा है। इस गाथा में शुद्धनय से तात्पर्य परमशुद्धनिश्चयनय से है। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति इसी आत्मा के आश्रय से होती है।

इस गाथा में आचार्य कुंदकुंद आज्ञा देते हुए कह रहे हैं कि- हे भाई! तुम अबद्ध, अस्पृष्ट आदि भावों से रहित एकरूप शुद्ध वस्तु के अनुभव को ही शुद्धनय जानो।

जिसप्रकार एक्स-रे शरीर में चमड़ी, मांस आदि के रहते हुए भी हड्डियों का फोटो ले लेता है; उसीप्रकार शुद्धनय संसारी अवस्था में समस्त पर पदार्थों, भावकर्म आदि सभी विकारों, पर्यायभेद, गुणभेद, प्रदेशभेद आदि सभी के रहते हुए भी शुद्ध-आत्मा को देखता है।

इसप्रकार इस गाथा में त्रिकाली शुद्ध को जानने वाली ज्ञान की पर्याय को शुद्धनय कहा है अर्थात् जिस ज्ञान की पर्याय में आत्मा की, ज्ञायक की अनुभूति हुई; वह शुद्धनय है। त्रिकाली वस्तु की अनुभूति शुद्धनय है। त्रिकाली सत्यार्थ वस्तु में झुककर, एकाग्र होने पर जो अनुभूति होती है, इस अनुभूति में त्रिकाली का जो यथार्थ निर्णय होता है, वह शुद्धनय है। वस्तु का अनुभव करके निर्णय करना - यही यथार्थ निर्णय है। इस यथार्थ निर्णय को ही शुद्धनय कहते हैं। यह अनुभूति आत्मा ही है, रागादि भाव आत्मा नहीं है।

इस गाथा में अस्पृष्ट, अबद्ध, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त विशेषणों के माध्यम से शुद्धनय के विषयभूत आत्मा का स्वरूप भी स्पष्ट किया गया है; क्योंकि संसार अवस्था में आत्मा निम्नप्रकार से अनेक रूप दिखाई देता है -

१) पर के स्पर्श वाला दिखाई देता है।

२) कर्मों से बंधा हुआ दिखाई देता है।

३) कर्म के निमित्त से होनेवाली नर-नारकादि भिन्न-भिन्न पर्यायों वाला दिखाई देता है।

४) स्वाभाविक गुणों की हानि-वृद्धि वाला दिखाई देता है।

५) अपने में विद्यमान ज्ञान-दर्शन आदि गुणों से विशेषरूप वाला दिखाई देता है।

६) कर्म के निमित्त से होनेवाले मोह-राग-द्वेषादि परिणामों से सहित सुख-दुःखरूप दिखाई देता है।

उक्त रूप वाला होने पर भी आत्मा शुद्धनय से संसार अवस्था में भी शुद्ध ही है।

इसलिए आचार्यदेव इस गाथा में कह रहे हैं कि संसार अवस्था में भी शुद्धनय से आत्मा निम्न विशेषणों से विशिष्ट है -

१) अस्पृष्ट - इस विशेषण से शुद्धनय के विषयभूत आत्मा को सभी पर से भिन्न बताते हुए कहा गया है कि जैसे - कमलिनी का पत्ता जल में डूबा हुआ होने पर भी अपने अस्पर्शी स्वभाव के कारण रंचमात्र भी गीला नहीं होता; वैसे ही यह आत्मा शरीरादि परपदार्थों के साथ रहने पर भी अपने अस्पर्शी स्वभाव के कारण रंचमात्र भी पर से एकमेक नहीं होता, भिन्न ही रहता है। अत: आत्मा पर से भिन्न है।

जब आत्मा में स्पर्श नामक गुण है ही नहीं, तो उसे कोई छू भी कैसे सकता है? यद्यपि संसार में सभी जीवों का आत्मा शरीर के साथ एक क्षेत्र में रहता दिखाई देता है, तथापि निश्चयनय से उसने किसी को छुआ तक नहीं है; अतः वह अस्पृष्ट है ।

२) अबद्ध - इस विशेषण से शुद्धनय के विषयभूत आत्मा को सभी कर्मों से भिन्न बताते हुए कहा गया है कि- जब आत्मा का पर के साथ कोई संबंध ही नहीं है तो कर्मों से बंधने की बात ही कहाँ रहती है; क्योंकि समस्त कर्म भी तो पर ही हैं। कमलिनी के पत्ते के समान ही आत्मा भी कर्मों के मध्य स्थित होने पर भी अपने नहीं बंधने के स्वभाव के कारण कर्मों से अबद्ध ही है। इसप्रकार वर्तमान पर्याय में कर्मों से संबंध होने पर भी त्रिकाली वस्तु में उसका अभाव होने से आत्मा 'अबद्ध' है।

३) अनन्य – इस विशेषण से शुद्धनय के विषयभूत आत्मा को नर-तिर्यंचादि पर्यायों से भिन्न बताते हुए कहा गया है कि – जिस प्रकार राम और श्याम मूवी में राम और श्याम अन्य- अन्य (जुदे- जुदे) ही हैं। राम, श्याम नहीं है और श्याम, राम नहीं है तथापि जब हम राम और श्याम के पात्र को दृष्टि में न लेकर जिस अभिनेता ने वे रोल किए हैं , उसकी दृष्टि से विचार करें , तो जो राम है, वह भी दिलीप कुमार है और जो श्याम है, वह भी दिलीप कुमार ही है। अतः राम और श्याम दोनों अन्य- अन्य नहीं; अनन्य (एक) ही है।

उसीप्रकार यद्यपि मनुष्य और तिर्यंच अन्य-अन्य (जुदे-जुदे) ही हैं; मनुष्य, तिर्यंच नहीं है और तिर्यंच, मनुष्य नहीं है; तथापि जब हम मनुष्य और तिर्यंच पर्याय को दृष्टि में न लेकर जिस आत्मा की वे पर्यायें हैं, उन सभी पर्यायों में व्याप्त एकाकार उस आत्मा को देखें तो मनुष्य भी आत्मा ही है, तिर्यंच भी आत्मा ही है; अतः तिर्यंच और मनुष्य दोनों अन्य-अन्य नहीं, अनन्य (एक) ही है।

४) नियत – इस विशेषण से शुद्धनय के विषयभूत आत्मा को ज्ञान और अन्य अनंत गुणों की पर्यायों से भी भिन्न बताते हुए कहा गया है कि – जिस प्रकार समुद्र में आनेवाले ज्वार-भाटे (high and low tides) की ओर से समुद्र को देखें तो वह बढ़ता भी है और घटता भी है । अतः इस दृष्टि से समुद्र का स्वभाव अनियत ही है; तथापि यदि समुद्र को उसके नियत स्वभाव की ओर से देखें तो वह ना कभी बढ़ता ही है,और ना कभी घटता ही है, सदा अपनी मर्यादा में ही रहता है; अतः वह अनियत नहीं, नियत ही है।

उसीप्रकार आत्मा की ज्ञान, दर्शन, वीर्य, आदि गुणों की पर्यायों में भी वृद्धि-हानि होती है। कभी ग्यारह अंग, नौपूर्व का क्षयोपशम भी हो जाता है और कभी अक्षर का अनन्तवा भाग मात्र क्षयोपशम रह जाता है। इसप्रकार इन उत्पाद-व्ययरूप पर्यायों से देखें तो अनियतपना सत्यार्थ है; तथापि नित्य, स्थिर ध्रुव आत्म स्वभाव जैसा है, वैसा ही सदा ध्रुव रहता है। जैसे- पर्याय में केवलज्ञान हो, तो भी ध्रुवस्वभाव में कुछ घटता नहीं है,कम नहीं होता है और निगोद में अक्षर का अनन्तवा भाग क्षयोपशम रह जाए, इससे ध्रुव स्वभाव में कुछ बढ़ता नहीं है, अधिक नहीं होता है। इसलिए आत्मा के ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि गुणों की औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव रूप पर्यायों में जो वृद्धि-हानि होती है, शुद्धनय के विषय में उसका निषेध किया गया है। अतः आत्मा अनियत नहीं, सदा **नियत ही है।**

५) अविशेष – इस विशेषण से शुद्धनय के विषयभूत आत्मा को गुणभेद से भिन्न बताते हुए कहा गया है कि – यद्यपि सोने को सोने में विद्यमान गुणों की ओर से देखें तो सोना पीला है, चिकना है, भारी है – यह बात सत्य ही है; तथापि सोने के शुद्ध स्वभाव की ओर से देखें तो सोना तो सोना ही है, पीला-चिकना आदि कुछ भी नहीं। इसीप्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों की ओर से देखने पर आत्मा ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है; पर आत्मस्वभाव की ओर से देखें तो न ज्ञान है, न दर्शन है, न चारित्र है; क्योंकि ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनंद आदि गुणों के विशेष भेद द्रव्य सामान्य में नहीं हैं। अतः आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि विशेषों के भेद से रहित अभिन्न, अविशेष है।

आत्मा में गुणों के समान ही प्रदेशों की स्थिति है। जिसप्रकार आत्मा अनन्तगुणात्मक होकर भी एक है, उसीप्रकार असंख्यप्रदेशी होकर भी अभेद है। जिसप्रकार आत्मा में गुण हैं, पर गुणभेद नहीं; उसीप्रकार आत्मा में प्रदेश हैं, पर प्रदेशभेद नहीं। इस दृष्टि से प्रदेशभेद से भिन्नता को भी इस विशेषण में शामिल कर कहा जा सकता है कि शुद्धनय के विषयभूत द्रव्यसामान्य में प्रदेशभेद नहीं, प्रदेशों का अभेद सम्मिलित है; अतः आत्मा अविशेष है।

६) असंयुक्त – इस विशेषण से शुद्धनय के विषयभूत आत्मा को रागादि भावकर्म से भिन्न बताते हुए कहा गया है कि – जिसप्रकार शीतलता जल का स्वभाव है और गर्म होना संयोगीभाव है, विभावभाव है; उसीप्रकार रागादि से असंयुक्त रहना आत्मा का स्वभाव है और रागादि से संयुक्त होना आत्मा का विभावभाव है। शुद्धनय का विषय स्वभाव ही होता है; अतः शुद्धनय का विषयभूत आत्मा रागादि से संबंध रहित **असंयुक्त** है।

६वीं, ७वीं गाथा में वर्णित शुद्धात्मा को ही यहाँ अबद्ध, अस्पृष्ट आदि विशेषणों से युक्त बताकर, उसे जाननेवाले नय को शुद्धनय कहा है।

इसके पश्चात् १५वीं गाथा में आचार्यदेव शुद्धनय के विषयभूत शुद्धात्मा के वास्तविक स्वरूप जानने को ही जिनशासन का जानना कह रहे हैं।

●

गाथा 15 /17

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
अपदेशसुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ।।१५।।

पदविच्छेद → अबद्ध-पुट्ठं; अणण्णं+अविसेसं; अपदेश-सुत्तमज्झं ।

शब्दार्थ → जो = जो जीव; अप्पाणं = आत्मा को; अबद्धपुट्ठं = अबद्धस्पृष्ट; अणण्णम = अनन्य; अविसेसं = अविशेष; पस्सदि = जानता है, देखता है; सव्वं =(वह) सम्पूर्ण; जिणसासणं = जिनशासन को (जानता देखता है); अपदेश = जिसके द्वारा पदार्थ कहा जाए ऐसे शब्द अपदेश कहलाते हैं अर्थात् द्रव्यश्रुत; सुत्तमज्झं = भावश्रुत (भावश्रुत ज्ञानमय है, अतः ज्ञानमय आत्मा ही सूत्र है) वाला है।

संदर्भ → इस गाथा में सम्पूर्ण जिनशासन की विषयवस्तु को जानने का उपाय बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि -

अर्थ → जो पुरुष आत्मा को अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष जानता है, देखता है; वह सम्पूर्ण जिनशासन को जानता है, देखता है। वह जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुतरूप और अभ्यंतर ज्ञानरूप भावश्रुत वाला है।

व्याख्या → इस गाथा में आत्मा को जानने वाले, अनुभव करने वाले को ही संपूर्ण जिनशासन का जानने वाला कहा गया है, क्योंकि शुद्ध आत्मा ही संपूर्ण जिनशासन का मूल प्रतिपाद्य है।

१४वीं गाथा में जिस शुद्धात्मा को ६ विशेषणों द्वारा समझाया गया है, उसी शुद्धात्मा को जानने का फल इस गाथा के पूर्वार्ध में ४ विशेषणों के द्वारा बताया गया है।

यद्यपि 'नियत' और 'असंयुक्त' विशेषण इस गाथा में नहीं दिए गए हैं; तदपि उन विशेषणों को भी इस गाथा में समाहित मानना चाहिए, क्योंकि छहों विशेषणों में अनन्य, नियत और असंयुक्त – यह तीन विशेषण पर्यायों से भिन्नता बताने के लिए दिए गए है। इस गाथा में पर्यायों के प्रतिनिधि के रूप में एक अनन्य विशेषण को लिया गया है।

नियत और असंयुक्त विशेषण शामिल करने पर इस गाथा का अर्थ इसप्रकार होगा – जो पुरुष आत्मा को अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष, नियत और असंयुक्त देखता है, वह सम्पूर्ण जिनशासन को देखता है।

प्रश्न उठता है कि जिनशासन किसे कहते हैं? उसका स्वरूप क्या है?

इसका उत्तर गाथा के उत्तरार्ध में देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि – जिनशासन द्रव्यश्रुत और भावश्रुतरूप है। द्वादशांग जिनवाणी को **द्रव्यश्रुत** कहते हैं और उसके प्रतिपाद्य को जानने वाली श्रुतज्ञान पर्याय को **भावश्रुत** कहते हैं। द्रव्यश्रुत शब्द रूप होता है और भावश्रुत ज्ञान रूप होता है। द्रव्यश्रुत अबध्द-अस्पृष्ट आत्मा के स्वरूप का निरूपण करता है और भावश्रुत अबध्द-अस्पृष्ट आत्मा का अनुभव करता है।

शुद्धनय का विषयभूत शुद्धात्मा द्रव्यश्रुत के द्वारा कहा जाता है और भावश्रुत के द्वारा जाना जाता है। इसप्रकार जो द्रव्यश्रुत द्वारा कहे गये, भावश्रुत द्वारा जाने गये अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, असंयुक्त आत्मा को जानता है, अनुभव करता है, वह समस्त जिनशासन को जानता है अर्थात् **आत्मानुभूति संपन्न पुरुष ही जिनशासन का मर्मज्ञ हो सकता है।**

चूँकि समस्त जिनशासन का प्रतिपाद्य शुद्धनय का विषयभूत शुद्धात्मा ही है, अतः जिसने शुद्धात्मा को जान लिया, पहचान लिया, अनुभव कर लिया, उसने समस्त जिनशासन को ही जान लिया है; क्योंकि द्रव्यश्रुत आत्मा के स्वरूप का निरूपण करता है और भावश्रुत आत्मा का अनुभव करता है।

आत्मा की अनुभूति ही ज्ञान की अनुभूति है और ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है। यही निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है। इसप्रकार हम देखते हैं कि यहाँ शुद्धात्मा को जानने वाले को ही संपूर्ण जिन शासन का जानने वाला कहा गया है।

संक्षेप में कहें तो सर्व परद्रव्यों से भिन्न, परनिमित्त से उत्पन्न हुए भावों से भिन्न, शुद्धाशुद्ध पर्यायों से भिन्न, गुणभेद से भिन्न अपने गुणों में एकरूप अपने स्वरूप का अनुभव ही ज्ञान का अनुभव है, शुद्धात्मा का अनुभव है।

१४वीं गाथा में जिसे शुद्धात्मा की अनुभूति कहा गया है, उसे ही इस गाथा में ज्ञान की अनुभूति कहा गया है। नय की तरफ से कथन करने पर जिसे शुद्धनय की अनुभूति कहा जाता है, उसे ही गुण की तरफ से कथन करने पर ज्ञान की अनुभूति

कहते हैं और आत्मद्रव्य की तरफ से कथन करने पर वही आत्मानुभूति कहलाती है। इसप्रकार शुद्धनयात्मक अनुभूति कहो, आत्मा की अनुभूति कहो या ज्ञानानुभूति, सभी पर्यायवाची ही हैं; मात्र अपेक्षा भेद है।

कहीं-कहीं, कभी-कभी शुद्धनय के विषयभूत आत्मा को शुद्धनय भी कह दिया जाता है, जैसा कि १४वीं गाथा में कहा भी गया है।

अज्ञानीजन ज्ञेयों में ही, इन्द्रियज्ञान के विषयों से एकमेक हुए ज्ञान को ही, ज्ञेयमात्र अनुभव करते हैं, वे ज्ञेयों से भिन्न ज्ञानमात्र का अनुभव नहीं करते और जो ज्ञानी हैं वे ज्ञेयों से भिन्न अपने से अभिन्न ज्ञान का ही अनुभव करते हैं; क्योंकि ज्ञान ही आत्मा है और आत्मा ही ज्ञान है। इसप्रकार गुण-गुणी की अभेददृष्टि पूर्वक अपने स्वरूप का अनुभव, ज्ञान का अनुभव है; ज्ञान का अनुभव शुद्धात्मा का अनुभव है और यही अनुभव (आत्मानुभव) भावश्रुतज्ञान रूप जिनशासन का अनुभव है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि-

(१) सभी परद्रव्यों और सभी पर्यायों से भी भिन्न अखंड एक शुद्ध त्रिकाली ज्ञान स्वभाव का अनुभवरूप भावश्रुत ज्ञान ही शुद्धनय है।

(२) शुद्धनय के विषयभूत द्रव्यसामान्य का अनुभव ही शुद्धनय है और यही जैन शासन है।

इसके पश्चात् आचार्य जयसेन की टीका में उपलब्ध गाथा ३ में शुद्धनय के विषयभूत आत्मा की महिमा बताई गई है। ●

तात्पर्यवृत्ति गाथा 3/18

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ।।३।।

शब्दार्थ → खु = निश्चय से; मज्झ = मेरे; णाणे = ज्ञान में; मे दंसणे = मेरे दर्शन में; य = और; चरित्ते = चारित्र में; पच्चक्खाणे = प्रत्याख्यान में; मे संवरे = मेरे संवर; जोगे = योग में; आदा = आत्मा (शुद्धात्मा) है।

संदर्भ → शुद्धनय से जाने हुए शुद्धात्मा की संवर, योग आदि सभी में उपस्थिति बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि –

अर्थ → निश्चय से मेरे ज्ञान में आत्मा है, मेरे दर्शन और चारित्र में आत्मा है। प्रत्याख्यान में आत्मा है और मेरे संवर, योग में आत्मा है।

व्याख्या → इस गाथा में शुद्धात्मा की अनुभूति को ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान (त्याग), संवर, योग (परमसमाधि, परमसामायिक, परमध्यान), सब कुछ कहा गया है। शुद्धात्मा की आराधना, साधना से ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र की प्राप्ति होती है, प्रत्याख्यान होता है, संवर होता है और योग भी होता है।

यह गाथा इसी ग्रन्थ में गाथा २७७ में व्याकरण (grammar) के परिवर्तन के साथ पायी जाती है। जैसे – णाणे,

दंसणे, चरित्ते, पच्चक्खाणे, संवरे, योगे, के स्थान पर णाणम्, दंसणम्, चरित्तम्, पच्चक्खाणम्, संवरो, योगो का प्रयोग किया गया है। जिसका अर्थ है- निश्चय से आत्मा ही ज्ञान है , मेरा आत्मा ही दर्शन और चारित्र है। मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है, मेरा आत्मा ही संवर और योग है। इस प्रकार इस गाथा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि को आत्मामय ही बता दिया गया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि दूसरी गाथा में जिस दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होने को स्वसमय कहा गया था; उसी में स्थित होने की महिमा इस गाथा में बता दी गई है।

इसके पश्चात् १६वीं गाथा में उसी दर्शन-ज्ञान-चारित्र की अभिन्नता बता कर उसमें स्थित होने की, लीन होने की, प्रेरणा दी जा रही है। ●

आनंद एक : रूप अनेक

साधन की दृष्टि से यदि विचार करें तो जीव तीन प्रकार से आनंद की अनुभूति करता है-

(१) इंद्रियों के द्वारा होने वाला इंद्रिय ज्ञान और इंद्रिय आनंद।

(२) मन के द्वारा होने वाला अनिंद्रिय मनजनित ज्ञान और अनिंद्रिय आनंद।

(३) सीधा आत्मा के द्वारा होने वाला अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनंद।

(To be continued on page no. 98)

गाथा 16/19

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ।।१६।।

पदविच्छेद → दंसण-णाण-चरित्ताणि, च+ एव।

शब्दार्थ → साहुणा = साधु को; दंसणणाणचरित्ताणि = (सम्यक्) दर्शन-ज्ञान-चारित्र का; णिच्चं = नित्य ही; सेविदव्वाणि = सेवन करना चाहिए; पुण = फिर; च = और; ताणि = उन; तिण्णि = तीनों को; णिच्छयदो = शुद्ध निश्चयनय से; अप्पाणं = आत्मा; एव = ही; जाण = जानो।

संदर्भ → इस गाथा में दर्शन, ज्ञान और चारित्र की अभिन्नता बता कर उसके सेवन की प्रेरणा देते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि-

अर्थ → साधु को दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सदा सेवन करना चाहिए और उन तीनों को निश्चय से एक आत्मा ही जानो ।

व्याख्या → इस गाथा के पूवार्द्ध में दर्शन- ज्ञान- चारित्र के सेवन की उपासना की बात की गई है और उत्तरार्द्ध में उसे ही आत्मा का सेवन, आत्मा की उपासना कहा गया है।

यहाँ अंतर मात्र इतना है कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीन हैं, अतः अनेक हैं, अनेकाकार हैं, भेदरूप ही हैं; इसलिए इनकी उपासना को **व्यवहार-उपासना** कहा जाता है और शुद्धनय का विषयभूत आत्मा एक है, एकाकार है, अभेद है। अतः उसकी उपासना को **निश्चय-उपासना** कहा जाता है।

अज्ञानी को समझाने के लिए उक्त तीन भेद कहे जाते हैं; वस्तुतः तो आत्मा एक ही है, अभेद रूप है। इसलिए दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करना कहो या उपासना करना कहो या

आत्मा का सेवन करना कहो, उपासना करना कहो; एक ही बात है; क्योंकि उपयोग का आत्म सम्मुख होना ही आत्मा की सच्ची उपासना है। अपने में अपनापन स्थापित होने का नाम ही आत्म उपासना है, स्वयं को जानने का नाम ही आत्म उपासना है, अपने में स्थिर होना ही **आत्म उपासना** है।

जब इसे भेद करके समझाते हैं, तो कहा जाता है-- दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उपासना करना चाहिए। जब अभेद कहकर समझाते हैं तो कहा जाता है कि आत्मा की उपासना करना चाहिए।

उक्त कथन में 'अभेद सो निश्चय और भेद सो व्यवहार' अथवा 'एक सो निश्चय और अनेक सो व्यवहार' - निश्चय-व्यवहार की परिभाषाओं के अनुसार यहाँ अभेद एक आत्मा के सेवन को निश्चय और उसके भेदरूप दर्शन-ज्ञान-चारित्र के सेवन को व्यवहार कहा गया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आचार्य देव ने १४वीं गाथा में श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) संबंधी, १५वीं गाथा में ज्ञान (सम्यक् ज्ञान) संबंधी और इस १६वीं गाथा में चारित्र (सम्यक् चारित्र) संबंधी चर्चा कर कहा है कि साधुओं को निश्चय दर्शन, ज्ञान, चारित्र का सदैव सेवन करना चाहिए।

१५वीं गाथा में जिस शुद्धात्मा के प्रतिपादन को संपूर्ण जिनशासन का प्रतिपाद्य बताया गया था और जिस आत्मा के जानने को ही समस्त जिनशासन का जानना कहा था; उसी शुद्धात्मा को इस गाथा में निश्चय से नित्य सेवन करने योग्य है, उपासना करने योग्य है, आराधना करने योग्य है, साधना करने योग्य बता रहे हैं; क्योंकि यदि हमें आत्मकल्याण करना है, सच्चा सुख प्राप्त करना है तो वह सब आत्मा की साधना, आराधना, उपासना से ही संभव है।

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित होना कहो या समस्त जैन शासन को जानना कहो या आत्मा में स्थित होना कहो -निश्चयनय से सभी पर्यायवाची कथन ही हैं।

इसी भाव से मिलती-जुलती २ गाथाएं आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में गाथा ९ व १० के बाद मिलती है।

जिनमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि भेदनय से, व्यवहारनय से जिसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भावना करना कहा जाता है। उसे ही अभेदनय से आत्मा की भावना भाना कहा जाता है; क्योंकि तीनों ही आत्मा है। अतः सभी **मुनियों** को शुद्धात्मा की ही भावना करना चाहिए, सेवा करना चाहिए। जो **मुनि** शुध्दात्मा में लीन होता है, वही शीघ्र मुक्ति प्राप्त करता है।

उक्त गाथा में स्पष्ट रूप से 'मुनि' पद का प्रयोग है, अतः इसे देखकर हम कह सकते हैं कि गाथा १६ में समागत 'साधु' शब्द भी 'मुनि' के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

यद्यपि दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय का आरंभ चौथे गुणस्थान में होता है और पूर्णता अरहंतों-सिद्धों में होती है, तथापि प्रेरणा तो पहले से छठवें गुणस्थान तक ही दी जा सकती है।

घरबार छोड़कर भी जो सांसारिक कार्यों में उलझ गए हैं - ऐसे साधुओं को प्रेरणा देते हुए मानो आचार्यदेव कह रहे हैं कि 'हे! साधुओं! दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन ही एकमात्र दुःखों से मुक्ति का उपाय है। अतः तुम इधर-उधर मत भटको, एक रत्नत्रय का ही आराधन करो, सेवन करो, उससे ही तुम्हें शीघ्र मुक्ति मिलेगी'।

गृहस्थावस्था में दर्शन-ज्ञान-चारित्र के सेवन से धर्म का आरंभ हो सकता है, पूर्णता नहीं। पूर्णता की प्राप्ति तो मुनि अवस्था में दर्शन- ज्ञान-चारित्र के सेवन से ही होगी। अतः साधु पुरुषों को, सज्जनों को भी दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन

करना चाहिए और साधुओं को, मुनियों को भी दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही सेवन करना चाहिए।

भेद दृष्टि से ही, व्यवहार से ही इन तीनों का; दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करना कहा जाता है। निश्चय से तो, अभेद दृष्टि से तो तीनों एक आत्मा ही हैं। अतः स्पष्ट है कि धर्म का आरंभ भी आत्मा के सेवन से होता है, और पूर्णता भी आत्मा के सेवन से होती है। सभी गृहस्थ से लेकर साधु पर्यंत, सभी को एक आत्मा की ही भावना भानी चाहिए।

आत्मा की भावना भाना अर्थात् अपने में अपनेपन की फीलिंग (अनुभूति) होना । जिसप्रकार अनादि से जीवों को शरीर में अपनेपन की फीलिंग होती है, उसीप्रकार जब आत्मा में, ज्ञान स्वरूप में अपनेपन की फीलिंग होगी, तब ज्ञान के साथ आनंद की भी अनुभूति होगी । यही आनंद अतींद्रिय आनंद है। यही अनुभूति आत्मा की अनुभूति है, शुद्धात्मा की अनुभूति है, स्वानुभूति है।

यह अनुभूति सामान्य ज्ञान की अनुभूति है, शुद्ध ज्ञान की अनुभूति है । जब मात्र इस ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान का अनुभव होता है, तब हमें बाह्य वस्तुओं से प्राप्त होने वाला ज्ञान तिरोहित हो जाता है । जैसे - जब हम मात्र नमक चखते हैं, तब खारा-खारा ही स्वाद आता है और जब हम जीरामन खाते हैं , तो हमें मसालों का ही स्वाद आता है । वैसे ही अज्ञानी ज्ञेय मिश्रित ज्ञान का अनुभव करते हैं और ज्ञानी ज्ञेय के संयोग से रहित केवल ज्ञान का , अकेले ज्ञान का आनंद सहित अनुभव करते हैं।- इस अनुभव को ही इस गाथा में आत्मा का सेवन करना कहा है। जिसका सेवन सभी साधु और गृहस्थों को करना चाहिए।

इसप्रकार यह गाथा विस्ताररुचि साधुओं के लिए **अंतिम पड़ाव** और प्रतिबुद्ध श्रावकों के लिए **पहला पड़ाव** हो सकती है। अभी तक की गाथाओं में आए पड़ाव में यह **पाँचवा पड़ाव** है।

इस पर मानो किसी शिष्य ने प्रश्न किया कि – 'गुरुदेव! यदि आप हमें उदाहरण से समझाएँ तो समझने में आसानी रहेगी' – ऐसे शिष्य को ही समझाने के लिए आचार्यदेव ने १७वीं, १८वीं गाथाएँ लिखी हैं।

●

इंद्रिय आनंद

इंद्रियों से प्राप्त होने वाली खुशी को ही यहाँ इंद्रिय आनंद कहा जा रहा है।

संसार में, लोक में इसे ही आनंद माना जाता है, अतः इसे ही 'सांसारिक आनंद' या 'लौकिक आनंद' भी कहते हैं। सभी संसारी जीवों के पास इन्द्रियाँ होती हैं। वे सभी जीव इंद्रियों द्वारा ही जानते हैं, सुख-दुःख का वेदन करते हैं ।इतना विशेष कि पेड़-पौधों के पास एकमात्र स्पर्शन इंद्रिय ही होती है, अतः वे स्पर्श द्वारा ही सुख-दुःख का वेदन करते हैं।

इसीप्रकार इल्ली, चींटी, मच्छर, पशु-पक्षी आदि को क्रमशः दो, तीन,चार और पाँच इन्द्रियाँ होती हैं । जिनके द्वारा सभी जीव क्रमशः स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द को जानते हैं।

चूँकि हम मनुष्यों को पाँच इन्द्रियाँ प्राप्त हैं, अतः हम सभी पाँचों इंद्रियों के माध्यम से आनंद प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।

(To be continued on page no. 101)

गाथा 17–18/20–21

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि ।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ।।१७।।
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ।।१८।।

पदविच्छेद (गाथा १८) → मोक्ख–कामेण, च+एव।

शब्दार्थ (गाथा १७) → जह = जैसे; णाम = किसी नाम का; को = कोई; वि = भी; अत्थत्थीओ = धन का चाहनेवाला अथवा आजीविका का चाहनेवाला; पुरिसो = पुरुष; रायाणं = राजा को; जाणिऊण = (छत्र, चमर आदि राज चिन्हों के द्वारा) पहचान कर; सद्दहदि = श्रद्धान करता है; तो = पश्चात्; पुणो = फिर; तं = उसको; पयत्तेण = प्रयत्नपूर्वक; अणुचरदि = अनुचरण करता है (आश्रय लेकर सेवा करता है) ।

शब्दार्थ (गाथा १८) → एवं हि = इसीप्रकार; मोक्ख=मोक्ष की; कामेण = इच्छा करनेवाले को; जीवराया = जीवराजा को; णादव्वो = जानना चाहिए; पुणो = फिर से; तह य = उसी प्रकार; सद्दहेदव्वो = श्रद्धान करना चाहिए; च = और; दु = पश्चात्; सो एव = वह ही (वही, उसी का); अणुचरिदव्वो = अनुचरण करना चाहिए अर्थात् अनुभव के द्वारा तन्मय हो जाना चाहिए ।

संदर्भ → दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकता को उदाहरण द्वारा समझाते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि –

अर्थ → जैसे कोई भी धन चाहनेवाला पुरुष सर्वप्रथम राजा को छत्र, चमर आदि अनेक चिन्हों से जानता है, फिर उसकी पहचान करता है और बाद में वह प्रयत्नपूर्वक उसकी सेवा करता है; वैसे ही मोक्ष को चाहने वाले सभी मुमुक्षुओं को सर्वप्रथम

जीवराजा को जानना चाहिए, श्रद्धान करना चाहिए और फिर उसी के अनुभव के द्वारा उसी में तन्मय हो जाना चाहिए।

व्याख्या → यह गाथा श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र के एकता की उदाहरण स्वरूप गाथा है। संसार में सभी ऐसा ही करते हैं;क्योंकि किसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए जानना, श्रद्धा करना और उस पर अमल करना आवश्यक है।अतः इस दुनिया में कोई भी आजीविका के लिए धन चाहनेवाला व्यक्ति सर्वप्रथम दानी, दयालु, धनवान राजा की जानकारी हासिल करता है। फिर विभिन्न प्रमाणों से निश्चित् करता है कि उसकी जानकारी सही है या नहीं। जानकारी सही सिद्ध हो जाने पर उसे विश्वास हो जाता है, श्रद्धा हो जाती है कि उसका धन प्राप्ति का लक्ष्य इसी राजा से पूर्ण होगा। इस प्रकार निश्चय होने पर वह सभी प्रयासों से उस राजा की सेवा कर, धन प्राप्त करता है।

उसी प्रकार मोक्ष के इच्छुक **भद्र मिथ्यादृष्टि गृहस्थ** को जीवराजा को जानना चाहिए, श्रद्धान करना चाहिए और फिर उसी के अनुभव के द्वारा उसी में तन्मय हो जाना चाहिए अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र का सेवन करना चाहिए; क्योंकि निश्चयनय से ये तीनों आत्मा ही हैं ।

इन दो गाथाओं में मोक्षार्थी सभी (साधु, श्रावक) श्रोताओं को उदाहरण द्वारा दर्शन-ज्ञान चारित्र की एकता बताकर उसी में प्रयत्न पूर्वक लगने की प्रेरणा दी गयी है। उदाहरण द्वारा श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का सही स्वरूप समझकर कुछ श्रोता/पाठक आत्मा में स्थित हो जाते हैं, उन मध्यम रुचि श्रोताओं के लिए यह दोनों गाथाएँ भी पड़ाव सिद्ध हो सकती हैं। यही समयसार का **छठवाँ पड़ाव** है।

इसके पश्चात् अत्यंत अप्रतिबुद्ध अज्ञानी श्रोताओं को नवतत्वों का आध्यात्मिक स्वरूप समझाने के लिए विस्तारपूर्वक कथन किया गया है।

चूँकि इन आरंभिक २१ गाथाओं में संपूर्ण समयसार की विषयवस्तु संक्षेप में आ गई है, अतः इन गाथाओं की इस टीका का नाम मैंने '**मिनी समयसार**' रखा है।

●

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि सभी मनुष्यों और पाँच इंद्रियों वाले कुछ थलचर, जलचर, नभचर-हाथी, शेर, मछली, तोता आदि पशु-पक्षियों के मन भी होता है। मन होने पर मन सहित सभी जीवों को एक विशेष शक्ति प्राप्त हो जाती है, जिसकी विशेष चर्चा 'अनिन्द्रिय आनंद' के प्रकरण में की जाएगी।

पाँचों इंद्रियों की वृत्ति बहिर्मुखी होती है अर्थात् उनके द्वारा बाह्य वस्तुओं (मूर्त पदार्थों) का ही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है; अतः वे बाह्य साधनों में ही सुख ढूँढ़ती हैं।

आप सभी स्वयं अपने जीवन पर दृष्टिपात करें तो पाएँगे कि पाँचों इंद्रियों के द्वारा होने वाले कुछ ज्ञानों में हम अनुकूलता फीलिंग् करते हैं और कुछ फीलिंग्स में प्रतिकूलता। जिनमें अनुकूलता महसूस होती है, उनमें हमें सुख का एहसास होता है और जिनमें प्रतिकूलता महसूस होती है, उनमें हमें दुःख होता है। जैसे:- किसी को एयरकंडीशन की ठंडक सुखप्रद लगती है और किसी को दु:खप्रद। इसीप्रकार किसी को तीखा खाना अच्छा लगता है तो किसी को मीठा। इसप्रकार हम सभी पाँचों इंद्रियों के सुख-दु:ख को तो दिन-रात भोगते रहते हैं। अतः अनादि से चिर-परिचित उस खुशी के विशेष कथन की यहाँ आवश्यकता नहीं; किंतु विचारणीय विषय यह है कि खुशी के उन छोटे-छोटे पलों की प्राप्ति के लिए अपना संपूर्ण जीवन समर्पित करना उचित है क्या? यदि, नहीं! तो वह कौन सा आनंद है- जिसे हमें अपना लक्ष्य बनाना चाहिए? क्या हम उस आनंद को पा सकते हैं ?

तो आइए! अब हम उसी आनंद की चर्चा करते हैं-

(To be continued on page no. 130)

अध्यात्म के नय का सामान्य स्वरूप

जो नय मूलरूप से आत्मा के स्वरूप को समझने-समझाने में ही काम आते हैं, उन्हें अध्यात्म के नय कहते हैं। जो वस्तु को अनेक स्वभावों से पृथक करके एक स्वभाव में स्थापित करता है और अपर पक्ष का निषेध न करते हुए वस्तु के अंश का कथन करता है, उसे नय कहते हैं। नयों की प्रवृत्ति वस्तु के एकदेश में ही होती है।

वस्तु तो अनन्तगुणों एवं परस्पर विरूद्ध प्रतीत होने वाले अनन्त धर्मयुगलों का पिण्ड है। अनन्तधर्मात्मक वस्तु को एक साथ जाना तो जा सकता है, पर कहा नहीं जा सकता है।

वस्तु के अंशों का निरूपण करने वाला होने से नयों का कथन अपेक्षा सहित (सापेक्ष) ही होता है, अपेक्षा रहित (निरपेक्ष) नहीं। जैसे अलग-अलग व्यक्तियों की अपेक्षा एक ही व्यक्ति, एक ही समय में चाचा और भतीजा, मामा और भानजा, पिता और पुत्र हो सकता है।

सम्यक् नय ज्ञानी के ही होते हैं, अज्ञानी के नहीं। सापेक्षनय ही सम्यक् नय हैं, निपरेक्ष नहीं। निरपेक्षनय मिथ्या होते हैं, वे दुर्नय कहलाते हैं।

यदि हम कहें कि हाथी खंभे के समान होता है, तो यह कथन पैर की अपेक्षा तो सही है; क्योंकि हाथी का पैर खंभे जैसा होता है। पर यदि अपेक्षा बताये बिना पूरे हाथी के बारे में यही कथन किया जाए तो यह सही नहीं होगा, मिथ्या होगा।

वस्तु का कौन सा धर्म पहिले कहा जाए, कौन सा बाद में - इसका कोई नियम नहीं है। ज्ञानी वक्ता जब एक धर्म का कथन करता है, तब वह मुख्य और अन्यधर्म गौण रहते हैं। यह मुख्यता-गौणता वस्तु में विद्यमान गुणों-धर्मों की अपेक्षा नहीं होती, अपितु वक्ता की इच्छा और प्रयोजन के अनुसार होती है।

मुख्यता–गौणता व विवक्षा–अविवक्षा वाणी के भेद हैं, वस्तु के नहीं।

वस्तु में तो सभी गुण–धर्म समान हैसियत से सदा विद्यमान रहते है। उनको एक साथ कहने की सामर्थ्य वाणी में न होने के कारण वाणी में मुख्य–गौण का भेद पाया जाता है।

मुख्यधर्म को विवक्षितधर्म और गौणधर्म को अविवक्षित धर्म कहते हैं। नयों के कथन में अविवक्षित धर्मों का निषेध नहीं किया जाता, अपितु उनके संबंध में मौन रहा जाता है। अविवक्षित धर्मों के संबंध में मौन रहना, कुछ नहीं कहना ही गौणता है। अविवक्षित धर्मों के निषेध को नयाभास कहते हैं।

नयों के संबंध में कुछ मुख्य बिन्दु निम्न हैं –

१. सापेक्ष नय ही सम्यक् नय होते हैं, निरपेक्ष नहीं।

२. निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं।

३. निरपेक्ष नय दुर्नय कहलाते हैं।

४. व्यवहारनय की सार्थकता उसके निषेध में है।

५. व्यवहारनय के बिना निश्चय समझा नहीं जा सकता और व्यवहार को छोड़े बिना निश्चयनय पाया नहीं जा सकता।

६. व्यवहारनय के निषेध के बाद निश्चयनय का पक्ष (विकल्प) भी विलय को प्राप्त हो जाता है। जब तक नयरूप विकल्प रहता है, तब तक निर्विकल्प अनुभूति प्रगट नहीं होती।

७. जो जीव निश्चय–व्यवहार का स्वरूप समझकर व्यवहार के विषय को छोड़कर निश्चयनय के विकल्प को तोड़कर निश्चयनय की विषयभूत वस्तु का आश्रय लेकर विकल्पातीत, नयपक्षातीत स्वानुभूति करता है, वह शीघ्र सच्चा सुख प्राप्त करता है।

८. व्यवहारनय का पक्ष छोड़ना है और विषयभूत अर्थ भी छोड़ना है। निश्चयनय का पक्ष छोड़ना है, पर विषयभूत अर्थ नहीं छोड़ना है।

९. व्यवहार के बिना तीर्थ का लोप हो जाएगा और निश्चय के बिना तत्त्व का लोप हो जाएगा।

१०. उपदेश की प्रक्रिया में व्यवहारनय प्रधान है, अनुभव की प्रक्रिया में निश्चयनय प्रधान है। मोटे तौर पर जैनदर्शन में अध्यात्म के मूल नय दो बताए गए हैं - (१)व्यवहारनय और (२) निश्चयनय ।

निश्चयनय	**व्यवहारनय**
१. निश्चयनय सच्चा निरूपण करता है।	१. व्यवहारनय उपचरित कथन करता है।
२. निश्चयनय आत्माश्रित कथन करता है।	२. व्यवहारनय पराश्रित कथन करता है।
३. निश्चयनय असंयोगी कथन करता है।	३. व्यवहारनय संयोगी कथन करता
४. निश्चयनय भूतार्थ है।	४. व्यवहारनय अभूतार्थ है।
५. निश्चयनय जिस द्रव्य का जो भाव या परिणति हो, उसे उसी द्रव्य की कहता है।	५. व्यवहारनय निमित्तादि की अपेक्षा अन्य द्रव्य के भाव या परिणति को अन्य द्रव्य की कह देता है।
६. निश्चयनय प्रत्येक द्रव्य का स्वतंत्र कथन करता है।	६. व्यवहारनय अनेक द्रव्यों को, उनके भावों को और कारण-कार्यादिक को मिलाकर कथन करता है।
७. निश्चयनय एक अखण्ड वस्तु में भेदों का निषेध कर अखण्डता की स्थापना करता है।	७. व्यवहारनय एक अखण्ड वस्तु में भेद करता है।

८. निश्चयनय दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं में स्थापित एकता का खंडन करता है।	८. व्यवहारनय प्रयोजनवश दो भिन्न- भिन्न वस्तुओं में अभेद स्थापित करता है।
९. निश्चयनय का कार्य स्व से अभेद और पर से भेद करना है।	९. व्यवहारनय का कार्य स्व में भेद और पर से अभेद करना है।
१०. निश्चयनय प्रतिपाद्य है।	१०. व्यवहारनय प्रतिपादक है।
११. निश्चयनय निषेधक है।	११. व्यवहारनय निषेध्य है।
१२. निश्चयनय और व्यवहारनय में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक संबंध है।	१२. व्यवहारनय और निश्चयनय में निषेध्य- निषेधक संबंध है।
१३. निश्चयनय को पाने के लिए व्यवहारनय को छोड़ना होगा।	१३. व्यवहारनय के बिना निश्चय समझा नहीं जा सकता।
१४. निश्चयनय को समझने के लिए व्यवहारनय को अपनाना होगा।	१४. व्यवहारनय को छोड़े बिना निश्चयनय पाया नहीं जा सकता।
१५. निश्चयनय के बिना तत्त्व (शद्धात्मा के अनुभव) का लोप हो जाएगा।	१५. व्यवहारनय के बिना तीर्थ (उपदश) का लोप हो जाएगा।
१६. अनुभव की प्रक्रिया में निश्चयनय प्रधान है।	१६. उपदेश की प्रक्रिया में व्यवहारनय प्रधान है।
१७. अनुभव के काल में निश्चयनय का विकल्प छूटता है, पर विषय का आश्रय रहता है।	१७. अनभव के काल में व्यवहारनय का विकल्प एवं विषय का आश्रय भी छूट जाता है।
१८. अभिन्न कर्ता-कर्म की स्थापना करता है।	१८. भिन्न-भिन्न द्रव्यों के बीच कर्ता-कर्म संबंध बताता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि निश्चयनय और व्यवहारनय की विषयवस्तु और कथन शैली में मात्र भेद ही नहीं है, अपितु विरोध भी दिखाई देता है; क्योंकि जिस विषयवस्तु को निश्चयनय अभेद-अखण्ड कहता है, व्यवहारनय उसी में भेद बताने लगता है और जिन दो वस्तुओं को व्यवहारनय एक बताता है, निश्चय के अनुसार वे कदापि एक नहीं हो सकतीं। व्यवहारनय दो द्रव्यों में कर्ता-कर्म का भेद करता है, उनमें कर्ता-कर्म का संबंध बताता है और निश्चयनय अभिन्न षट्कारक के साथ-साथ कर्ता-कर्म के भेद का निषेध करता है।

दोनों नय अपने-अपने विषय के पक्के हैं। जिसका जो विषय है; उसे वे अपना-अपना विषय बनाते हैं। विषयगत विरोध के कारण वे परस्पर विरोधी भी हैं और सम्यक् श्रुतज्ञान का अंश होने से अभिन्न साथी भी।

जो जीव निश्चय-व्यवहार का स्वरूप **समझकर**, व्यवहारनय के विषय को **छोड़कर**, निश्चयनय के विकल्प को **तोड़कर**, निश्चयनय की विषयभूत वस्तु का आश्रय लेकर विकल्पातीत, नयपक्षातीत स्वानुभूति करता है, वह शीघ्र ही सच्चा सुख प्राप्त करता है। व्यवहारनय दो प्रकार का होता है - असद्भूत और सद्भूत। उक्त दोनों के भी दो-दो भेद होते हैं।

(१) उपचरित असद्भूत व्यवहारनय (२) अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय (३) उपचरित सद्भूत व्यवहारनय और (४) अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय।

निश्चयनय भी दो प्रकार का होता है।

अशुद्ध निश्चयनय और शुद्ध निश्चयनय ।

शुद्ध निश्चयनय तीन प्रकार का है -

(१) एकदेश शुद्ध निश्चयनय (२) साक्षात् शुद्ध निश्चयनय (३) परमशुद्ध निश्चयनय।

इसप्रकार व्यवहारनय एवं निश्चयनय दोनों ही चार-चार प्रकार के हो गये। नयों के उक्त भेद-प्रभेदों की भिन्नता को निम्न चार्ट द्वारा समझाया जा सकता है:

व्यवहारनय

(पर से अभेद करता है, अपने में भेद करता है)

असद्भूत व्यवहारनय

(पर से अभेद करता है, संबंध जोड़ता है)

उपचरित असद्भूत व्यवहारनय	अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय
१. दूर के संबंध संयोग संबंध को विषय बनाता है।	१. पास के संबंध संश्लेष संबंध को विषय बनाता है।
२. माता-पिता, स्त्री-पुत्र, मकान आदि को अपना कहने वाला है; क्योंकि इनमें संयोग संबंध है, जो सदा हमारे साथ नहीं रहते हैं।	२. देह को अपना कहने वाला है, क्योंकि इनमें संश्लेष संबंध है। यह संबंध जन्म से मरण तक सदा हमारे साथ रहता है।
३. बाह्य संयोगों का ज्ञान कराता है। जैसे - रमेश की सम्पत्ति।	३. शरीर के संयोग का ज्ञान कराता है। जैसे - शरीर मेरा है।
४. यह नय उपचार में उपचार करता है। शरीर - से संबंधित वस्तुओं को अपनी कहता है - मेरे पिता, मेरा भाई आदि।	४. यह नय भिन्न द्रव्यों में उपचार करता है - जैसे - मैं गोरा, मैं बीमार आदि।
५. रोटी-मकान आदि संयोगों का एवं पंचेन्द्रिय के विषयों का कर्ता-भोक्ता इसी नय से कहा जाता है - जैसे - मैं मकान बनाता हूँ आदि।	५. द्रव्य कर्म, नोकर्म (शरीर) का कर्ता-भोक्ता इसी नय से कहलाता है। जैसे - मैं व्यायाम से स्वस्थ रहता हूँ।
६. बाह्य विभूति समवशरण के आधार पर तीर्थंकरों की स्तुति इस नय से की जाती है।	६. देह के आधार पर तीर्थंकरों की स्तुति इस नय से की जाती है।

७. औपचारिकता निभानी पड़ती है, अतः उपचरित है।	७. औपचारिकता नहीं निभानी पड़ती है, अतः अनुपचरित है।
८. इसके बिना प्रथमानुयोग नहीं बनेगा।	८. इसके बिना चरणानुयोग नहीं बनेगा।
९. स्वधन-परधन, स्व-माता, पर-माता में स्पष्ट करने वाला है।	९. सजीव और अजीव में अंतर स्पष्ट करने वाला है।
१०. इस नय के बिना धार्मिक और नैतिक जीवन संभव नहीं।	१०. इस नय के बिना अणुव्रत और महाव्रत संभव नहीं।
११. यह नय सदाचार की सिद्धि करने वाला है ।	११. यह नय अहिंसात्मक आचरण की सिद्धि करनेवाला है।

व्यवहारनय

(पर से अभेद करता है, अपने में भेद करता है)

सद्भूत व्यवहारनय

(अपने में भेद करता है)

उपचरित (अशुद्ध) सद्भूत व्यवहारनय	**अनुपचरित (शुद्ध) सद्भूत व्यवहारनय**
१. यह नय अशुद्ध विकारी पर्यायों में भेद को विषय बनाता है।	१. यह नय शुद्ध पर्यायों में भेद को विषय बनाता है।
२. पर के लक्ष्य से उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष को अपना कहने वाला है; क्योंकि वे आत्मा में ही पैदा होते हैं। जैसे - मुझमें राग-द्वेष है।	२. आत्मा में गुणभेद-पर्यायभेद कर ज्ञानादि को अपना कहने वाला है । जैसे मुझमें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है।
३. सोपाधि गुण-गुणी में भेद को विषय करने वाला है। जैसे - जीव के मतिज्ञानादि गुण।	३. निरूपाधि गुण-गुणी में भेद को विषय करने वाला है। जैसे - जीव के केवलज्ञानादिगुण।

४. यह नय अल्पविकसित मतिज्ञानादि और विकारी पर्यायों को जीव की कहता है	४. पूर्ण विकसित निर्मल केवलज्ञानादि पर्याय या गुण को जीव की कहता है।
५. रागादिभावकर्म (संयोगीभावों) का कर्ता इसी नय से कहा जाता है। जैसे - मुझे अपनी बहन से बहुत प्रेम है।	५. पूर्ण विकसित निर्मल पर्यायों का कर्ता-भोक्ता इसी नय से कहा जाता है। जैसे - जीव केवलज्ञान से सुखी होता है।
६. इसका विषय अशुद्ध गुण-गुणी और अशुद्ध पर्याय है।	६. इसका विषय शुद्ध गुण-गुणी और शुद्ध पर्याय है।
७. यह हमारी वर्तमान अवस्था का ज्ञान कराता है।	७. यह नय स्वभाव की सामर्थ्य का ज्ञान कराता है।
८. यह नय आत्मा की अपूर्ण और विकृत पर्यायों का ज्ञान कराता है।	८. यह नय आत्मा में अनुपचरित रूप से विद्यमान शक्तियों और पूर्ण पावन व्यक्तियों का परिचय कराता है।
९. आत्मा की सुख-शांति के घातक मोहादि परिणामों को आत्मा नहीं माना जा सकता, अतः उन्हें आत्मा कहने वाला नय कथंचित् हेय है।	९. भेद में ही उलझे रहने से अभेद-अखण्ड आत्मा की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए इसका निषेध किया जाता है। अतः यह नय भी कथंचित् हेय है।
१०. अपनी भूलों की पुनरावृत्ति न करने की सीख देनेवाला होने से यह नय कथंचित् उपादेय है।	१०. अपने शुद्ध स्वरूप को समझने के लिए यह नय उपयोगी है, अतः यह नय कथंचित् उपादेय है।
११. यह नय वर्तमान पर्याय की पामरता का ज्ञान कराकर उससे मुक्त होने की प्रेरणा देता है।	११. यह नय हीनभावना से मुक्ति दिलाकर आत्मगौरव उत्पन्न करता है।

निश्चयनय
(पर से भेद करता है, अपने में अभेद करता है)
अशुद्ध निश्चयनय
(अपने पर्यायों में अभेद करता है)

१. यह नय अशुद्ध पर्याय में अभेद को विषय बनाता है।

२. पर के लक्ष्य से उत्पन्न होने वाले रागादि भावों को आत्मा कहनेवाला है।

३. सोपाधि गुण–गुणी में अभेद को विषय करने वाला है।

४. यह नय अल्पविकसित और विकारी पर्यायों को जीव कहता है। जैसे – मैं मिथ्यादृष्टि हूँ।

५. जीव भाव पर्यावरूप आश्रव–बंध, पुण्य–पाप पदार्थों का कर्ता–भोक्ता इस नय से हैं। जैसे – मैं दानी हूँ, व्रती हूँ।

६. यह नय रागादि भावों के साथ एकता स्थापित करता है।

७. यह नय औदयिक और क्षायोपशमिक भावों में विद्यमान अशुद्धता के अंश के साथ जीव की अभेदता बतलाता है।

८. सांसारिक सुख–दुख और राग–द्वेष जीव जनित हैं।

९. इसका विषय राग–द्वेषरूप पर्याय से परिणत आत्मा संसार मार्गी होने से न साधन है, न साध्य है; अपितु हेय है।

१०. यह नय पर्यायस्वभाव को ग्रहण करता है।

११. प्रथम गुणस्थान से बारहवें तक होता है।

१२. अपने अपराधों की स्वीकृतिपूर्वक परिहार अथवा अपना उपयोग पर से हटाकर अपने में लाना ही इस नय का प्रयोजन है।

निश्चयनय

शुद्ध निश्चयनय

एकदेश शुद्धनिश्चयनय

(अपनी पर्यायों में अभेद करता है)

१. यह नय एकदेश शुद्ध पर्यायों में अभेद को विषय बनाता है।

२. स्व के लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाले एकदेश निर्मल पर्याय सम्यक् दर्शन को आत्मा कहनेवाला है। जैसे – मैं सम्यग्दृष्टि हूँ।

३. निर्मल किन्तु अपूर्ण पर्याय के साथ अभेदता को विषय बनाने वाला है।

४. यह नय एकदेश शुद्ध-गुण और पर्यायों को जीव कहता है। जैसे – मैं सम्यग्दृष्टि हूँ।

५. जीव भाव पर्यायरूप संवर, निर्जरा और मोक्ष पर्यायों का कर्ता इस नय से है। जैसे – मुनिराज को शुद्धोपयोगी कहना।

६. यह नय मुक्तिमार्ग के साथ एकता स्थापित करता है।

७. यह नय क्षयोपशम भाव में विद्यमान शुद्धता के अंश के साथ आत्मा की अभेदता बताता है।

८. सांसारिक सुख-दुःख और राग-देष कर्मजनित है।

९. इसका विषय मोक्षमार्गरूप पर्याय से परिणत आत्मा. मोक्षमार्गरूप होने से साधन है, प्रगट करने की अपेक्षा एकदेश उपादेय है।

१०. यह नय पर्यायस्वभाव को ग्रहण करता है।

११. चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें तक होता है।

१२. विकारी पर्याय से पृथकता स्थापित कर अपूर्ण निर्मलपर्याय से एकता स्थापित करना ही इस नय का प्रयोजन है।

निश्चयनय

साक्षात्शुद्ध निश्चयनय

(अपनी पर्यायों में अभेद करता है।)

१. यह नय पूर्ण शुद्ध पर्यायों में अभेद को विषय बनाता है।
२. स्व के लक्ष्य से हुई पूर्ण निर्मल केवलज्ञान पर्याय को आत्मा कहनेवाला है।
३. निरूपाधि गुण–गुणी में अभेद को विषय बनाने वाला है।
४. यह नय पूर्ण शुद्ध गुण और पर्यायों को जीव कहता है। जैसे – केवलज्ञानी जीव।
५. यह नय क्षायिकभावों का कर्ता–भोक्ता कहता है। जैसे – क्षपकश्रेणी वाले मुनिराज।
६. यह नय पूर्ण शुद्ध पर्याय के साथ एकता स्थापित करता है।
७. यह नय क्षायिकभावों के साथ अभेदता अभेदता बताता है।
८. इस नय से सांसारिक सुख–दुःख और राग– द्वेष की उत्पत्ति ही नहीं है।
९. इसका विषय मोक्षरूप से परिणत आत्मा मोक्षरूप होने से साध्य है और प्रगट करने की अपेक्षा उपादेय है।
१०. यह नय पर्यायस्वभाव को ग्रहण करता है
११. चतुर्थ गुणस्थान से सिद्धों तक होता है।
१२. अपूर्ण पर्याय भी नष्ट होने वाली है, अतः उसे हेय बताकर सादि–अनन्त निर्मलपर्याय से अभेदता बताना ही इसका प्रयोजन है।

पाठकों की दृष्टि में

अप्पाजी! मैंने मिनी समयसार को एक गाथा तक पढ़ा है बहुत सारे बिंदु नए मिले। आपने बहुत बढ़िया कार्य किया है।

कु. माधुरी जैन
जयपुर

निश्चयनय

परमशुद्ध निश्चयनय

(पर्यायों की चर्चा ही नहीं करता)

१. यह नय पर्यायों से रहित त्रिकाली द्रव्य को विषय बनाता है।

२. समस्त पर्यायों से रहित त्रिकाल स्वभाव को आत्मा कहने वाला है।

३. समस्त विकारी और अविकारी पर्यायों से आत्मा को भिन्न बताने वाला है ।

४. यह नय त्रिकाल शुद्ध सामान्यभाव का ग्रहण करता है। जैसे – त्रिकाली ध्रुव परमात्मा।

५. यह नय जीव को अकर्ता–अभोक्ता कहता है।

६. यह नय द्रव्यस्वभाव के साथ एकता स्थापित करता है।

७. यह नय पारिणामिक भाव से अभेदता बताता है।

८. इस नय से सांसारिक सुख–दुःख और राग–द्वेष है ही नहीं।

९. इसका विषय बन्ध मोक्ष से रहित शुद्धात्मा ध्येय है और आश्रय करने की अपेक्षा उपादेय है।

१०. यह नय द्रव्यस्वभाव को ग्रहण करता है।

११. सभी गुणस्थानों में और गुणस्थानातीत भी होता है।

१२. निर्मल पर्याय अनादि से नहीं होने के कारण उससे भी पृथक्ता स्थापित कर अनादि–अनंत रहने वाले द्रव्यस्वभाव में एकता स्थापित करना ही इस नय का प्रयोजन है। ●

समयसार में शुद्धात्मा का स्वरूप

– विद्वत्‌रत्न डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया

शुद्धात्मा में जमने वाले, रमने वाले, आचार्य कुन्दकुन्द शुद्धात्मा का ही चिन्तन करते थे, ध्यान करते थे। ध्यान से बाहर निकलते तो शुद्धात्मा की ही चर्चा करते। उनकी दृष्टि में एकमात्र शुद्धात्मा ही ज्ञेय है, ध्येय है, उपादेय है, शेष सब हेय हैं।

अधिक क्या कहें? कुन्दकुन्द का जीवन ही इसका ज्वलंत उदाहरण है।

कुन्दकुन्द के जीवन के बारे में कुछ जानकारी है तो यही है कि ''११ वर्ष की अल्पवय में उन्होंने अपने माँ–पिता आदि परिवार व कुटुम्बीजन को त्याग कर शुद्धात्मा को ही अपना घर बना लिया था। शुद्धात्मा में लीनता ही उनका काम था। शुद्धात्मा ही उनका धाम (घर) था।

जिस शुद्धात्मा को उन्होंने पाया था, जिसमें वे निरन्तर लीन रहने का प्रयास करते थे – उसका सही एवं पूर्ण ज्ञान कराना ही उनके प्रतिपादन का मूल उद्देश्य था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस ग्रन्थ में विभिन्न विषय समाविष्ट किए गए हैं।

पर से भिन्न, स्व से अभिन्न शुद्धात्मा का दर्शन ही समयसार का मूल प्रतिपाद्य है। अतः आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी टीका में इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि ध्यान का ध्येय शुद्धात्मा विस्मृत न हो जाए। इसीलिए उनके द्वारा लिखित टीका व कलशों में सर्वत्र शुद्धात्मा के दर्शन किसी न किसी रूप में हो ही जाते हैं। जैसे –

कलश – १ शुद्धात्मा की चर्चा। **कलश – २** प्रत्यगात्मा की चर्चा। **कलश – ३** शुद्ध चिन्मात्र मूर्ति। **गाथा – १** स्वभाव के अवलंबन के होने से ध्रुव। **गाथा – २** स्व समय। **गाथा – ३** एकत्व–विभक्त आत्मा। **गाथा – ४** अपने से अभिन्न आत्मा। **गाथा – ५**

एकत्व-विभक्त आत्मा। **गाथा – ६** पर्यायों से भिन्न आत्मा। **गाथा – ७** ज्ञायक भाव (गुणों में अभेद)। **गाथा – ८** करणलबद्धि के रूप में। **गाथा ९,१०,११** निश्चय श्रुतकेवली के रूप में। **गाथा–१२** शुद्धनय के रूप में। **कलश ४,५,६,७** शुद्धात्मा की महिमा और निश्चय सम्यग्दर्शन के स्वरूप के रूप में। इन्हें हम निम्न प्रकार जान सकते हैं–

आ. अमृतचन्द्र ने अपने मंगलाचरण के प्रथम कलश में द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म रहित, सर्वज्ञ स्वभावी, त्रिकाली शुद्धात्मा को नमस्कार कर शुद्धात्मा का महत्व दर्शा दिया है। इसप्रकार इस कलश में कारण परमात्मा के रूप में 'शुद्धात्मा' है।

द्वितीय कलश में समस्त परवस्तुओं से भिन्न, नैमित्तिक परभावों से भिन्न प्रत्यागात्मा के रूप में शुद्धात्मा की ही चर्चा है।

तृतीय कलश में 'शुद्ध चिन्मात्र मूर्त्ति' कहकर आत्मा के द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रहित शुद्ध स्वरूप की ओर ही इशारा किया है।

प्रथम गाथा में द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रहित सिद्धों को अपना साध्य बताया है। इसतरह इस गाथा में शुद्धात्मा 'कार्य परमात्मा' के रूप में है।

इसप्रकार इस गाथा में 'कार्य परमात्मा' के रूप में शुद्धात्मा की चर्चा कर उसे अपना 'साध्य' बताया है और प्रथम कलश में 'कारण परमात्मा' के रूप में शुद्धात्मा को 'आराध्य' बताया था।

संक्षेप में कहें तो साध्य और साधन दोनों रूपों में 'शुद्धात्मा' को स्थापित कर दिया गया है।

आठवीं गाथा में साध्य शुद्धात्मस्वरूप सिद्धपद प्राप्त करने के लिए साधन रूप शुद्धात्मा की बात रुचिपूर्वक सुनने, गहराई से समझने, गंभीरता से विचार करने और उग्र पुरुषार्थ द्वारा शुद्धात्मा के अनुभव करने की प्रेरणा दी गई है और करणलब्धि का उल्लेख शुद्धात्मा के अनुभव का सूचक है।

नौवीं, दसवीं गाथा में शुद्धात्मा के जानने वालों को ही निश्चय श्रुतकेवली कहा गया है।

ग्यारहवीं गाथा में कहा है कि – शुद्धनय के विषयभूत शुद्धात्मा (शुद्धज्ञायक भाव) के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

बारहवीं गाथा में शुद्धात्मा का उपदेश करने वाले शुद्धनय को जाना हुआ प्रयोजनवान कहा है।

इस गाथा के पश्चात् आने वाले चारों कलशों में शुद्धात्मा की ही महिमा बतलाई गई है। साथ ही निश्चय सम्यग्दर्शन का स्वरूप बतलाते हुए भी द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म रहित शुद्धात्मा की ही चर्चा है; क्योंकि आत्मा को द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म से रहित देखना निश्चय सम्यग्दर्शन है। निश्चय सम्यग्दर्शन शुद्धनय के विषयभूत शुद्धात्मा के आश्रय से ही उत्पन्न होता है।

संक्षेप में हम कहें तो द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म रहित शुद्धात्मा' – यह वह फार्मूला है, जिसे आ. अमृतचन्द्र ने लगभग सभी गाथाओं में विभिन्न तरीकों से घटाया है।

आत्मा कौन है? कैसा है? उसका वास्तविक स्वरूप क्या है? बताते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि – सारी दुनिया इस शरीर को ही जीव कहती है, इसको ही आत्मा मानकर बैठी है, क्योंकि इस जगत में जीव के रूप में हमें जो कुछ भी दिखाई देता है, वह शरीर रूप में ही दिखाई देता है जैसे – हम-तुम, हाथी, घोड़ा, बिल्ली, तोता-मैना आदि।

यद्यपि यह सत्य है कि सभी प्राणी अकेले शरीर नहीं है, वह शरीर और आत्मा का मिश्रण हैं, क्योंकि अकेले शरीर को तो लोक में मुर्दा कहा जाता है, शव कहा जाता है। अतः स्पष्ट है कि शरीर जीव नहीं है, पर शरीर में जीव अवश्य है। यहाँ यह कहना अधिक उचित होगा कि आत्मा सहित शरीर को ही जीव कहा जाता है और आत्मा

रहित शरीर को मुर्दा। पर जगत से गलती यह हो रही है कि जब आत्मा सहित शरीर को जीव कहा जाता है, तब वह शरीर में ही जीव मान लेता है। अतः समयसार में शरीर और आत्मा की भिन्नता बताते हुए कहा गया है कि – हमें जो कुछ दिखाई दे रहा है शरीर, रूप, रंग, आकार, प्रकार – यह सब तो पुद्गल हैं; क्योंकि यह सब तो पुद्गल के गुण हैं, जीव तो अरस, अरूपी, अस्पर्शी है।

समयसार में शरीर को परपदार्थों का एक प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत किया गया है क्योंकि सारे परपदार्थों में अत्यन्त नजदीक का परपदार्थ यह शरीर ही है। इसलिए जिसने शरीर से भिन्नता जान ली उसके लिए स्त्री–पुत्रादि, मकान–जायदाद, देश नगरादि से भिन्नता जानना कठिन नहीं होगा; क्योंकि जरा सी प्रतिकूलता होने पर ही इनका जुदापना अज्ञानियों को भी भासित होने लगता है, किन्तु शरीर से भिन्नता तब भी भासित नहीं होती, इसलिए शास्त्रों में शरीर से भिन्नता बताने पर विशेष जोर दिया जाता रहा है। यद्यपि लोक में न केवल शरीर से अपितु स्त्री–पुत्रादि, मकान–जायदाद आदि में भी अपनत्व का व्यवहार होता है तथा शास्त्रों में भी इन्हें अपने कहा जाता है; क्योंकि जब तक हम दुनियाँ में हैं, तब तक दुनियाँ के व्यवहार निभाने पड़ते हैं तथा शास्त्रों में भी दुनियाँ के इस व्यवहार को व्यवहारनय के रूप में स्वीकार किया है।

व्यवहारनय दो प्रकार के होते हैं –

असद्भूतव्यवहारनय और सद्भुतव्यवहारनय

उक्त दोनों के भी दो–दो भेद हैं –

(i) उपचरित असद्भूत व्यवहारनय (ii) अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय (iii) उपचरित सद्भूत व्यवहारनय (iv) अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय।

पर के साथ दूर के संबंध संयोग संबंध की चर्चा जिस नय में की जाती है, उसे **उपचरित असद्भूत व्यवहारनय** कहते हैं। इस नय में औपचारिक संबंधों को विषय बनाया जाता है अर्थात् उपचार में भी उपचार किया जाता है जैसे – शरीर से संबंधित चीजों स्त्री–पुत्रादि, देश–नगरादि को अपना कहना। शरीर से हमारा संबंध उपचरित संबंध है और इन संबंधों में उपचार में उपचार किया गया है। इसमें उन संबंधों को अपना माना जाता है, कहा जाता है जो वस्तुतः अपने हैं नहीं; इसी भव में छूट जाते हैं। इनमें जो भी परिवर्तन होता है, वह हमारा किया हुआ रंचमात्र नहीं होता, हमारे मन के अनुकूल वे चलते नहीं। अतः उन्हें अपना मानने से हम अनन्त दुखी होते हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि स्पष्ट बाह्य परपदार्थों में 'ये सब मेरे हैं', 'मैं इनका कर्त्ता भोक्ता हूँ' – ऐसा व्यवहार इस नय से ही कहा जाता है। स्पष्ट परवस्तुओं को अपना कहने वाले इसे नय को समयसार में अभूतार्थ कहा गया है।

पर के साथ नजदीक के संबंध संश्लेष संबंध की चर्चा जिस नय में की जाती है, उसे **अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय** कहते हैं। इस नय में अनौपचारिक संबंधों को विषय बनाया जाता है अर्थात् इस संबंध में औपचारिकता नहीं निभानी पड़ती है अतः उपचरित संबंधों को ही विषय बनाया जाता है जैसे – शरीर को आत्मा कहना और शरीर और आत्मा को एक कहना आदि। शरीर से हमें औपचारिकता नहीं निभानी पड़ती, अतः उससे हमारा अनौपचारिक संबंध है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 'शरीर मैं हूँ', 'शरीर मेरा है', 'मैं इसका कर्त्ता–भोक्ता हूँ' – ऐसा व्यवहार इस नय से ही कहा जाता है।

समयसार में इस नय को अभूतार्थ कहते हुए कहा गया है कि मैं मात्र शरीर नहीं हूँ; क्योंकि शरीर तो मात्र जन्म से मरण तक का साथी है और मैं तो जन्म से पहले भी था, मरण के बाद भी रहूँगा। मैं तो जन्म–मरण से परे अनादि–अनन्त हूँ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आचार्यदेव ने पुण्य-पाप के उदय से मिले संयोगों के आधार पर नयों में दो भेद किए हैं - एक तो वे बाह्य संयोग जो जन्म से लेकर मरण तक के साथी नहीं हैं और जिनके साथ हमें औपचारिकता निभानी पड़ती है ऐसे स्त्री-पुत्रादि, देश-नगरादि को अपने कहने वाला नय और दूसरे वह जो जन्म से मरण तक का साथी है और जिसके साथ औपचारिकता नहीं निभानी पड़ती है ऐसे शरीर को अपना कहनेवाला नय - इसप्रकार असद्भूत व्यवहार नय दो प्रकार का हो गया। इन दोनों ही नयों को समयसार गाथा में निश्चयनय से अभूतार्थ, असत्यार्थ, हेय कहा गया है; क्योंकि निश्चयनय आत्मा को स्त्री-पुत्रादि और शरीर से भिन्न बताता है, पर कहता है। पर को पर जानकर ही तो छोड़ा जाता है।

जो नय अशुद्ध विकारी पर्यायों में भेद को विषय बनाता है, उसे **उपचरित सद्भूत व्यवहारनय** कहते हैं। यह नय अल्पविकसित मतिज्ञानादि पर्यायों और पर के लक्ष्य से उत्पन्न हुए मोह-राग-द्वेषादि विकारी भावों को अपना कहता है; क्योंकि वे आत्मा में ही पैदा होते हैं।

समयसार में इस नय को निश्चयनय से अभूतार्थ, असत्यार्थ कहा गया है; क्योंकि राग-द्वेष के परिणाम आत्मा में उत्पन्न होकर भी आत्मा के विकार हैं, आत्मा की सुख-शांति के घातक हैं, आत्मा को दुख देने वाले हैं, बंधन में डालने वाले हैं। निश्चयनय से मैं इनसे जुदा हूँ, ये मैं नहीं हूँ, ये मेरे नहीं हैं, मैं इनका कर्त्ता-भोक्ता भी नहीं हूँ।

जो नय शुद्ध पर्यायों में भेद को विषय बनाता है, उसे **अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय** कहते हैं। यह नय आत्मा में गुणभेद-प्रदेशभेद कर अभेदवस्तु में भेद करता है।

समयसार में इस नय को भी अभूतार्थ कहा गया है, क्योंकि गुणभेद, प्रदेशभेद के लक्ष से ज्ञान में विकल्प की तरंगें उठती हैं और जब तक ज्ञान में विकल्प की तरंग उठेगी; तबतक आत्मानुभव नहीं होगा।

आत्मानुभव तब होगा जब परमशुद्धनिश्चयनय की विषयभूत शुद्धात्मा हमारे ख्याल में आएगी, जब उसी शुद्धात्मा में 'ये मैं हूँ' ऐसी दृढ़ प्रतीति अंतर में जगेगी, तब उसी शुद्धात्मा के ध्यान में हम मग्न हो जायेंगे।

परम शुद्धनिश्चयनय से न तो स्त्री-पुत्र, मकान, नगरादि आत्मा हैं, न शरीर आत्मा है, न राग आत्मा है, न क्रोधादि भाव आत्मा हैं, यहाँ तक कि आत्मा के अन्दर विद्यमान जो प्रमत्त-अप्रमत्त पर्यायें हैं, वे आत्मा नहीं हैं। जो ज्ञान-दर्शनादि गुण हैं, उनका भेदविकल्प भी आत्मा नहीं हैं। इन सबसे भिन्न जो शुद्ध आत्मा है, वही परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है वही उपादेय है, सत्यार्थ है, भूतार्थ है।

यद्यपि परमशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से व्यवहारनय, हेय हैं, अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं तदपि वे सर्वथा असत्यार्थ नहीं हैं, क्योंकि अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए वे उपयोगी हैं, सत्यार्थ हैं, भूतार्थ हैं। दैनिक जीवन में, लौकिक व्यवहार में उपचरित असद्भूत व्यवहारनय उपयोगी है, सत्यार्थ है। यदि यह व्यवहारनय नहीं मानेंगे तो स्वस्त्री-परस्त्री, स्वधन-परधन का भेद ही नहीं रहेगा। सदाचार नहीं रहेगा। यह नय सदाचार की सीमा का प्रतिपादक है।

प्रथमानुयोग व चरणानुयोग की आधारशिला भी व्यवहारनय ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रह परमाणुव्रत आदि इसी नय से कहे जाते हैं। ऋषभदेव के पुत्र, पत्नियों आदि का कथन भी इसी नय के अन्तर्गत आते हैं। अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय,

अहिंसात्मक आचरण की सिद्धि करनेवाला है। रात्रि में भोजन नहीं करना, मांस-मदिरा का सेवन नहीं करना, आलू-जमींकंद नहीं खाना, क्योंकि इनको खाने से इनमें पनपने वाले अनन्तजीवों की मृत्यु होगी। इसप्रकार मृत्यु विषयक सभी कथन इसी नय के कथन हैं। **इस नय को नहीं मानने से जैसे भस्म को मसल देने से हिंसा नहीं होती वैसे ही त्रस-स्थावर जीवों को मसल देने से भी हिंसा नहीं होगी, क्योंकि शरीर आत्मा के मिश्रण को जीव इसी नय से कहा जाता है।** अपनी भूल स्वीकार कर उसकी पुनरावृत्ति न हो इसके लिए उपचरित सद्भूतव्यवहारनय की उपयोगिता है एवं आत्मा की महिमा समझने के लिए अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय की उपयोगिता है; क्योंकि अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय आत्मा में एक-एक गुण की एक-एक पर्याय की महिमा बताकर भेद की चर्चा करता है।

यद्यपि भेद व्यवहार करने से आत्मा समझ में आता है, तथापि यदि दृष्टि भेद में ही उलझी रहे तो विकल्प खड़े होते हैं, जिससे आत्मा का अनुभव नहीं होता। अतः ज्ञान को भेद से विकल्पों में नहीं उलझाना है, इसलिए इस व्यवहार का भी निषेध किया जाता है। आत्मानुभव की दृष्टि से यह नय भी हेय है, असत्यार्थ है।

भेदविज्ञान की दृष्टि से भी सभी व्यवहारनय की उपयोगिता है; क्योंकि भले ही उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से कहा जाता हो कि - स्त्री-पुत्रादिक, धनादिक ही आत्मा है; लेकिन वास्तव में वे आत्मा नहीं है, भले ही अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय से आत्मा में मोह-राग-द्वेष के विकारी भाव उत्पन्न होते हैं, लेकिन मोह-राग-द्वेष रूप विकारी परिणाम आत्मा नहीं है, यद्यपि अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय से आत्मा में अनन्त गुण हैं, आत्मा असंख्यात प्रदेशी हैं, लेकिन स्वयं आत्मा अनन्त नहीं हैं, आत्मा तो एक अखण्डपिण्ड है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि व्यवहारनय सर्वथा अनुपयोगी नहीं है, सर्वथा असत्यार्थ नहीं है। व्यवहारनय अपने प्रयोजन की सिद्धि में समर्थ होने से सत्य है, उपादेय है और प्रयोजन सिद्धि के पश्चात् उसकी उपयोगिता नहीं रहती, अतः हेय है, क्योंकि व्यवहारनय को समझे बिना आत्मा समझ में नहीं आता और आत्मा व्यवहार में ही उलझे रहने से आत्मा की प्राप्ति नहीं होती अतः पहले व्यवहारनय से आत्मा समझना होगा और बाद में उसे असत्यार्थ मानकर छोड़ना होगा। ऐसा करेंगे तो ही हमें आत्मा की प्राप्ति हो सकती है।

निश्चयनय और व्यवहारनय – दोनों नय एक ही वस्तु में एक साथ घटित होते हैं, पर उन्हें देखने में क्रम पड़ता है, क्योंकि हम दोनों नयों से युगपत् नहीं देख सकते हैं। देखने में कभी व्यवहार मुख्य होता है, तो कभी निश्चय।

व्यवहार की कीमत निश्चय के साथ होने में ही है। यदि व्यवहारनय निश्चय का प्रतिपादक नहीं होता तो उनकी कीमत नहीं होती। निश्चय का प्रतिपादक होने से ही व्यवहारनय को जिनवाणी में स्थान मिला है। यद्यपि आत्मा को समझने के लिए व्यवहार की आवश्यकता है, तथापि आत्मा में जमने–रमने के लिए व्यवहार को छोड़ना जरूरी है, क्योंकि व्यवहार को छोड़े बिना आत्मा का अनुभव नहीं होता। यही कारण है कि व्यवहारनय कथंचित् उपादेय हैं एवं कथंचित् हेय है, कथंचित् सत्यार्थ है एवं कथंचित् असत्यार्थ है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिनागम में निश्चय–व्यवहार का सर्वथा निषेध नहीं किया गया है; क्योंकि यदि व्यवहार को छोड़ देंगे तो तीर्थ का लोप हो जाएगा और निश्चय को छोड़ देने पर तत्त्व का लोप हो जाएगा। समयसार गाथा १२ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने इसका उल्लेख करते हुए कहा है कि – वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन, पठन–पाठन व्यवहारनय से ही होता है,

अतः व्यवहारनय नहीं मानने से तीर्थ का लोप हो जाएगा और यदि आत्मा हमारे ज्ञान का ज्ञेय नहीं बनेगा तो तत्त्व का लोप हो जाएगा क्योंकि तब तत्त्वमात्र वाणी में रह जाएगा, अंतर की वस्तु नहीं बनेगा। वचनातीत, विकल्पातीत, पक्षातीत, नयातीत त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा निश्चयनय का विषय है अतः निश्चयनय नहीं मानने से तत्त्व का लोप हो जाएगा।[१]

समयसार में शुद्धात्मा का वर्णन निश्चयनय पूर्वक सकारात्मक (पोजेटिव) व नकारात्मक (नेगेटिव) दोनों ही रूपों में वर्णित है; क्योंकि आत्मा का सही स्वरूप क्या है? यह जानने के साथ-साथ यह जानना भी जरूरी है कि आत्मा क्या नहीं है? जिन वस्तुओं और भावों में आत्मपन की गल्ती सामान्यतया होती है - वे आत्मा क्यों नहीं है? इनका सयुक्तिक विवेचन समयसार में किया गया है।

शुद्धात्मा को समयसार में प्रायः आत्मा शब्द से ही अभिहित किया गया है।

आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए समयसार में कहा है कि - निश्चयनय से आत्मा एक है, शुद्ध, ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण है, सदा अरूपी एवं ममता रहित है। आत्मा प्रमत्त व अप्रमत्त नहीं है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि भेद शुद्धात्मा में नहीं है, वह तो मात्र एक ज्ञायक भाव रूप है। निश्चयनय से ये तीनों आत्मा एक ही हैं, व्यवहारनय से उसे दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय कहा जाता है।

निश्चयनय से आत्मा बन्ध रहित, पर के स्पर्श से रहित, अन्यत्व रहित, चलाचलता रहित, विशेष रहित एवं अन्य के संयोग से रहित है, वह द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म से भी रहित है। मोह, पुद्गल, धर्माधर्मादि पर द्रव्य व परभाव भी आत्मा में नहीं हैं; आत्मा तो उपयोग मात्र है तथापि व्यवहारनय से शरीर और जीव को एक कहा जाता है।

१. समयसार अनुशीलन भाग-१, पृष्ठ ११८-११९

जीव भ्रम से मोह-रागादि के वश होकर स्त्री-पुत्रादि, धान्यादि और ग्रामनगरादि परद्रव्य में आत्मा का विकल्प करता है; किन्तु आत्मा किसी भी प्रकार, कभी भी एक क्षण को भी परद्रव्य के साथ एक नहीं होता, अतः परद्रव्य आत्मा नहीं हो सकता।

स्त्री-पुत्रादि सभी शरीर से संबंधित हैं। जब शरीर ही मैं (आत्मा) नहीं हूँ, तो फिर शरीर से संबंधी वस्तुएँ मेरी कैसे हो सकती हैं? किन्तु अनादिकाल से जीव और शरीर एकक्षेत्रावगाह रूप से मिले हुए हैं एवं अनादिकाल से ही पुद्गल के संयोग से जीव की अनेक विकार सहित अवस्थाएँ हो रही हैं, जिन्हें देखकर जीव संयोगज (संयोग से उत्पन्न हुए) अध्यवसान, कर्म, नोकर्म, कर्मों का फल-उदय-अनुभाग और अध्यवसानों के तीव्र-मंद अनुभाग आदि सभी विभाव भावों को ही आत्मा मान लेता है, पर ये सभी भाव पुद्गल-निष्पन्न होने से पुद्गल स्वरूप ही हैं।

जीव व कर्म मिले हुए हैं - यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि आठों प्रकार के कर्म दुःख के हेतु एवं पुद्गल निष्पन्न होने से पुद्गलमय ही हैं। व्यवहारनय से ही उक्त भावों को आत्मा का कहते हैं। निश्चयनय से तो जीव में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नहीं हैं; शरीर, संस्थान, संहनन नहीं है, राग-द्वेष-मोह नहीं हैं। प्रत्यय, कर्म, नोकर्म नहीं हैं; वर्ग-वर्गणा, स्पर्धक नहीं हैं, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान नहीं हैं; मार्गणास्थान, स्थिति बंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान नहीं है और जीवस्थान, गुणस्थान भी नहीं हैं; क्योंकि उक्त सभी उपयोग गुण से रहित हैं, पुद्गल के परिणाम हैं। अतः निश्चयनय से ये जीव में नहीं हैं, इनका जीव के साथ संयोग संबंध अवश्य है।

जीव तो अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, अर्निदिष्ट संस्थान, अशब्द, अलिंगग्रहण एवं चेतनामय है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि शरीरादि तो अजीव हैं ही, किन्तु वे सभी पदार्थ भी अजीव हैं, जो कि जीव के शुद्ध स्वरूप में नहीं हैं, औपाधिक भाव हैं; विभाव भाव हैं। यद्यपि आत्मा में उत्पन्न होते हैं, पर वे आत्मा नहीं हैं; अपितु आत्मा के लिए बंधन के हेतु हैं। जैसे कि विभाव परिणति से उत्पन्न पुण्य-पाप।

आत्मा न तो पुण्यरूप होता है, न पाप रूप। वह न परवस्तु का ग्रहण करता है, न त्याग। आत्मा शरीर मन-वाणी आदि पुद्गल द्रव्य का कर्त्ता नहीं, कारयिता नहीं, अनुमोदन करने वाला भी नहीं हैं; आत्मा तो अकर्त्ता है।

आत्मा परद्रव्य के कर्तृत्व से रहित है। इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि –

प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्यायों से अनन्य होता है। अतः जीव और अजीव के जो परिणाम होते हैं, वे परिणाम जीव और अजीव से अनन्य हैं। यही कारण है कि आत्मा अपने ही गुण-पर्यायों का कर्त्ता है, कर्मों का कर्त्ता नहीं। कर्मों का कर्त्ता पुद्गल द्रव्य हैं; क्योंकि ज्ञानावरणादि रूप परिणमन पुद्गल द्रव्य में हो रहा है। इसीप्रकार रागादि का कर्त्ता आत्मा ही है, परद्रव्य नहीं; क्योंकि रागादिरूप परिणमन आत्मा ही करता है।

सभी द्रव्यों के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं, अतः सभी द्रव्य अपने-अपने परिणामों के कर्त्ता हैं एवं परिणाम उन द्रव्यों के कर्म हैं। निश्चय से किसी द्रव्य का किसी द्रव्य के साथ कर्त्ता-कर्म संबंध नहीं है। अतः जीव-अजीव भी अपने परिणामों के ही कर्त्ता हैं एवं वे परिणाम उनके कर्म हैं। अतः स्पष्ट है कि आत्मा जिस भाव को करता है, उस

भाव का वह कर्त्ता होता है। आत्मा के कर्त्ता होने पर पुद्गल द्रव्य अपने आप कर्मरूप परिणमित होता है।

निश्चयनय से उपयोग (आत्मा) शुद्ध, एक और निरंजन है; किन्तु अनादिकाल से मोहयुक्त होने से मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति – ये तीनों विकार परिणाम अनादि से उपयोग के हैं। यह विकारमय उपयोग जिस विकारी भाव को करता है, उस भाव का वह कर्त्ता होता है। जैसे – जब तीन प्रकार का उपयोग 'मुझे गुस्सा आ रहा है' इस प्रकार क्रोधादि कषायों में आत्म विकल्प करता है, तब आत्मा उस उपयोग रूप अपने भावों का कर्त्ता होता है। इस प्रकार अज्ञानी अपने अज्ञान भाव से अपने को पररूप और पर को अपने रूप करता है, अतः वह कर्मों का कर्त्ता है, भोक्ता है; परन्तु जब जीव अपने को पर रूप और पर को अपने रूप नहीं करता, तब वह कर्मों का अकर्त्ता होता हुआ सर्व कर्तृत्व को छोड़ता है।

व्यवहारनय से आत्मा इन्द्रियों को घट-पट रथादि वस्तुओं को, शरीरादि नोकर्म को और अनेक प्रकार के क्रोधादि द्रव्यकर्मों को करता है, पुद्गल कर्मों के फल को भोगता है, मन-वचन-काय रूप करणों को ग्रहण करता है एवं उनके द्वारा कर्म करता है, पर किसी से तन्मय नहीं होता।

जीव पुद्गल के परिणमन का कर्त्ता नहीं है, किन्तु जीव के निमित्तभूत होने पर कर्मबन्ध का परिणाम होता हुआ देखकर 'जीव ने कर्म किया' ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। व्यवहार नय से ही आत्मा को पुद्गल द्रव्य को उत्पन्न करने वाला (कर्त्ता), बाँधने वाला, परिणमन करने वाला और ग्रहण करने वाला कहते हैं एवं व्यवहारनय से ही जीव को पुद्गल द्रव्य के द्रव्यगुणों को उत्पन्न करने वाला कहा जाता है।

निश्चय से तो आत्मा पुद्‌गल द्रव्य के द्रव्यगुणों को नहीं करता अतः वह पुद्‌गल का कर्त्ता नहीं है, वह तो अपने योग और उपयोग का कर्त्ता है, जो कि परद्रव्यों के कर्त्तृत्व में निमित्त होता है। आत्मा जिस शुभ या अशुभ भाव को करता है, उस भाव का वह कर्त्ता होता है। वह भाव उसका कर्म होता है और आत्मा उस भावरूप कर्म का भोक्ता भी होता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आत्मा को कर्म का सर्वथा अकर्त्ता एवं कर्म को कर्म का सर्वथा कर्त्ता मानना उचित नहीं, क्योंकि अज्ञान दशा में अपने अज्ञानभाव रूप कर्म का कर्त्ता आत्मा है। इनमें व्यवहार से तो कर्त्ता-कर्म का भेद है, पर निश्चय से जो कर्त्ता है, वही कर्म है।

आचार्य तो यहाँ तक कहते हैं कि **आत्मा को आत्मद्रव्य का कर्त्ता मानना भी युक्ति संगत नहीं है,** क्योंकि आत्मा में क्या करना? आत्मा तो नित असंख्यातप्रदेशी द्रव्य है, उसमें कुछ हीनाधिक नहीं हो सकता, अतः उसमें कुछ करने की कल्पना करना मिथ्या है, अथवा यह कहा जाए कि ज्ञायक भाव तो अपने ज्ञान स्वभाव से स्थित रहता है, तो इससे भी यही सिद्ध होता है कि आत्मा स्वयं अपने आत्मा को भी नहीं करता है।

निश्चय से परद्रव्यों का और आत्मा का ज्ञेय-ज्ञायक, दृश्य-दर्शक, त्याज्य-त्याजक आदि संबंध नहीं है, पर व्यवहार से ये संबंध बताए जाते हैं; क्योंकि परद्रव्य और आत्मा के निमित्त-नैमित्तिक भाव हैं।

व्यवहारनय से 'जीव कर्मप्रदेशों से बँधा और स्पर्शित है' निश्चयनय से 'जीव अबद्ध अस्पर्शित है।' - ये दोनों ही नयपक्ष हैं, शुद्धात्मा नयपक्ष रहित है। एक, शुद्ध, निर्मल, ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण है।

यद्यपि आत्मा परिणमन स्वभाव वाला है, तदपि शुद्धस्वभावत्व के कारण अपने आप ही रागादिरूप नहीं परिणमता। आत्मा परद्रव्य के निमित्त होने पर ही शुद्धभाव से च्युत हुआ रागादि रूप परिणमित होता है। जीव द्वारा किए गए रागादि भाव ही नवीन बन्ध के कारण हैं, रागादि रहित भाव बंधक नहीं हैं।

जिस प्रकार पेड़ से पके फल के गिरने पर वह पुनः डाली में नहीं जुड़ता, वैसे ही जीव के कर्मभाव खिर जाने पर पुनः जीव के साथ नहीं जुड़ते।

आत्मा तो मात्र ज्ञायक है। ज्ञान उसका गुण है। जानना उसका कार्य है। निरन्तर जानने के अलावा शुद्धात्मा कुछ नहीं करता। पर आत्मा का ज्ञान गुण जब तक जघन्य अवस्था में रहता है, तब तक अन्तर्मुहूर्त में निर्विकल्पता से सविकल्पता को प्राप्त करता रहता है। अतः उस समय वह नवीन बन्ध का करने वाला भी होता है।

अतः स्पष्ट है कि जब ज्ञानी शुद्धनय से च्युत होता है, तब पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय जीव के रागादिभाव का निमित्त पाकर नवीन कर्म का बन्ध करते हैं तथा शुद्धात्मा की उपलब्धि होने से राग-द्वेष-मोह रूपी द्रव्यास्रव का अभाव होने पर नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता।

शुद्धात्मा की उपलब्धि भेदविज्ञान से होती है एवं इसका ग्रहण प्रज्ञा के द्वारा होता है। प्रज्ञा से आत्मा निश्चित करता है कि – मैं एक हूँ, चेतन हूँ, ज्ञाता-दृष्टा हूँ, अन्य शेष भाव मुझसे पर हैं। जैसे – निश्चय से उपयोग उपयोग में है, क्रोधादि में उपयोग नहीं और क्रोध क्रोध में ही है; उपयोग में क्रोध नहीं आदि; क्योंकि उपयोग चैतन्य का परिणमन होने से ज्ञानस्वरूप है

और क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि नोकर्म सभी पुद्गल के परिणाम होने से जड़ हैं। अतः उपयोग और क्रोधादि के प्रदेशभिन्नता होने से अत्यन्त भेद है तथा उनमें पारमार्थिक आधार-आधेय संबंध नहीं है - ऐसा ज्ञान ही भेदविज्ञान है।

भेदविज्ञानी जीव शुभाशुभ योगों को रोककर दर्शन-ज्ञान में स्थित होकर, इच्छा से विरत, सर्वसंग से रहित होता हुआ, कर्म-नोकर्म का ध्यान नहीं करता हुआ, कर्मों के द्वारा सताया जाने पर भी अपने ज्ञानित्व को नहीं छोड़ता एवं निरन्तर शुद्धात्मा का ही अनुभव करता रहता है, अतः उसे शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि समयसार में शुद्धात्मा को परपदार्थों तथा उनके निमित्त से होनेवाले जीव के विकारी भावों से भिन्न तो दर्शाया ही है, साथ ही साथ अपनी निर्मल पर्यायों और गुणभेद से भी भिन्न बताया है।

अतः स्पष्ट है कि आत्मा की दो अवस्थाएँ होती हैं - (१) परसमय रूप और (२) स्वसमयरूप।

जो अपने स्वरूप में न रहकर परस्वरूप मोह-राग-द्वेषादि भावों में स्थित होता है, वह परसमयरूप आत्मा कहलाता है।

जो अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र, सुख आदि गुणों में स्थित होता है, वह स्वसमयरूप आत्मा ही शुद्धात्मा कहलाता है।

शुद्धात्मा की उपलब्धि स्वानुभूति से होती है। स्वानुभूति बिना सुखप्राप्ति संभव नहीं। संसार के समस्त प्राणी सुखी होना चाहते हैं, अतः उन्हें स्वानुभूति अनिवार्य है।

हम सभी स्वानुभूति के द्वारा शुद्धात्मा की प्राप्ति करें - इसी भावना के साथ में विराम लेती हूँ।

●

अनिन्द्रिय आनंद

मन से प्राप्त होने वाले आनंद को ही यहाँ अनिन्द्रिय आनंद कहा जा रहा है। इंद्रियों की सहायता से रहित होने के कारण इसे अनिन्द्रिय कहते हैं और मन से होने के कारण इसे ही मनजनित भी कहते हैं।

मन की गति दिखाई देने वाले,न दिखाई देने वाले - सभी विषयों और वस्तुओं की तरफ होती है। मन का काम सोचना-विचारना, अनेकों विकल्प खड़े करना और अपने-पराए की पहचान करना है। अपने-पराए की पहचान करना- यह वह विशेष शक्ति है - जिसके द्वारा जीव अनिन्द्रिय आनंद की प्राप्ति की ओर कदम बढ़ाता है। इसे स्व-पर भेदविज्ञान भी कहते हैं।

स्व-पर भेदविज्ञान

स्व और पर के बीच में भेद पूर्वक होने वाला विशेष ज्ञान ही स्व-पर भेदविज्ञान कहलाता है।

स्व (आत्मा) का और पर (शरीरादि) का भिन्नपना जैसे भासित हो, वैसे विचार करते रहने से भेदविज्ञान होता है । चूँकि इस चिंतन में स्व और पर मुख्य हैं; अतः इसे 'स्व- पर भेदविज्ञान' कहते हैं। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ अपने बच्चों और पराए बच्चों की पहचान होना स्व-पर भेदविज्ञान नहीं; क्योंकि ऐसा ज्ञान तो पशु-पक्षियों को भी हो जाता है। कौआ और कोयल भी अपने-अपने बच्चों को पहचानते ही है; किंतु यहाँ आत्मा में अपनापन और शरीरादि में परायापन को ही स्व-पर भेदविज्ञान की श्रेणी में रखा गया है।

यह स्व-पर भेदविज्ञान ही हमें अनिन्द्रिय आनंद व अतीन्द्रिय आनंद की ओर ले जाता है। अतीन्द्रिय आनंद की चर्चा आगे की जा रही है।

अतीन्द्रिय आनंद

सीधा आत्मा से प्राप्त होनेवाले ज्ञान को अतीन्द्रिय आनंद कहा जाता है। इन्द्रियों की सहायता से रहित होने के कारण इसे अतीन्द्रिय कहते हैं।

हमारा जो ज्ञान पाँच इन्द्रियों द्वारा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द को जानता है; मन द्वारा अनेक विकल्प करता है, वही ज्ञान जब मात्र अपने ज्ञान स्वरूप को ही जानता है, तब यह आनंद प्रगट होता है। जब यह आनंद प्रगट होता है,तब अन्य का जानना सहज ही नहीं होता है; क्योंकि हमें उपलब्ध हमारा वर्तमान ज्ञान एक समय में एक ज्ञेय को ही जानता है।

यद्यपि जो ज्ञान इन्द्रियों और मन के द्वारा पर को जानता है, वही ज्ञान अपना अनुभव करता है; तथापि इस ज्ञान को अतीन्द्रिय कहते हैं; क्योंकि इन्द्रियाँ तो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द को ही जानती है। वह यहाँ अनुभव में नहीं है और मन विकल्प करता है, वह भी यहाँ नहीं है।

विकल्प रहित होने के कारण इस अनुभव और आनंद को निर्विकल्प अनुभव और निर्विकल्प आनंद भी कहते हैं।

●

प्रबुद्ध मनीषियों की दृष्टि में

(१)

प्रिय डॉक्टर शुद्धात्मप्रभा,

मंगल आशीर्वाद।

तुम्हारी लिखी गई 'मिनी समयसार', मैंने सब पढ़ाई छोड़ कर पहले इसी को पूरा किया। वास्तव में यह समाज के लिए बहुत ही उपयोगी होगी। समयसार के नाम पर लोग इसका अध्ययन नहीं करते, कहते हैं कि - यह मुनियों के पढ़ने का शास्त्र है।

तुमने इसमें अच्छी तरह लिखकर यह सिद्ध कर दिया है कि मात्र मुनियों को ही नहीं, यह तो सभी वर्ग के व्यक्तियों के पढ़ने की वस्तु है।

जब हम इसका अध्ययन ही नहीं करेंगे कि इसमें क्या लिखा है, किस बात को आचार्य समझाना चाहते हैं, तो फिर कैसे समझ में आएगा? हमारा जीवन तो प्रति समय समाप्ति की ओर है–ऐसे समय में कुन्दकुन्दाचार्य की मूल गाथाओं की स्मृति योग्य गाथाओं को संक्षेप में सरल शब्दों में प्रस्तुत कर हमारे उम्र के श्रावकों की अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति की है। तुम्हारी इस कृति की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें पिछली गाथाओं के सार को भी संक्षेप में दोहराया है; जिससे विषय सहज बोधगम्य हो गया है।

तुम्हारे क्षयोपशम ज्ञान की जितनी प्रशंसा की जाए थोड़ी है। लेखन के लिए धन्यवाद! इसी तरह आगे बढ़ती रहना। यही शुभकामना है। इसका प्रकाशन शीघ्र ही होना चाहिए।

विदुषी श्रीमती कमला भारिल्ल, जयपुर

(२)

जय जिनेन्द्र दीदी,

मेरा स्वास्थ्य कोरोना के कारण बहुत खराब हो गया था, इसलिए आपको कोई उत्तर नहीं दे सका था। अब आज मैंने इस पुस्तक के पूरे पेज आद्योपांत पढ़े हैं और मुझे बहुत ही अच्छा लगा है। आपने यह सामान्य आदमी के लिए बहुत ही सरल सुबोध कार्य कर दिया है। एक विचार ये अवश्य आया कि पदविच्छेद के साथ अन्वय भी होता तो ठीक रहता, पर कोई खास बात नहीं है।

डॉ .वीर सागर जैन
प्रोफेसर, डिपार्टमेंट ऑफ़ जैन फिलॉसॉफी,
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत यूनिवर्सिटी, नई दिल्ली

(३)

विदुषी लेखिका डॉ. शुद्धात्मप्रभाजी द्वारा लिखित 'मिनी समयसार' का अध्ययन करने का अवसर मिला और साथ ही इस पर अभिमत लिखने हेतु प्रस्ताव भी प्राप्त हुआ। उनके इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार करते हुए कहना चाहता हूँ कि आज इस पंचम काल रूपी संतप्त मरुस्थल में आचार्य कुन्दकुन्द विरचित समयसार परमागम ही एक शीतल हवा का झोंका है। यद्यपि संपूर्ण समयसार ही अवश्य प्रत्येक मुमुक्षु द्वारा पठनीय है। इसमें किसी पंथ और संप्रदाय का कोई संबंध नहीं है, जो जीव अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहे, उसे समयसार का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। पाठकों से मैं कहना चाहता हूँ कि यह कृति आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार का एक दिग्र्शन (tailor) मात्र है। इसमें संपूर्ण समयसार की झलक प्राप्त हो जाती है; अतः संक्षिप्त रुचि वालों के लिए यह ठीक है, किंतु हमें अवश्य ही संपूर्ण समयसार का भी गहराई से अध्ययन करना चाहिए। प्रबुद्ध लेखिका जी से भी निवेदन है कि वह इस

ग्रंथाधिराज की संपूर्ण व्याख्या लिखकर समस्त मुमुक्षु जगत के कल्याण में सहभागी बने। समयसार की चर्चा करने वाले इस युग में धन्य हैं। मैं उन सबकी भरपूर अनुमोदना करता हूँ। इसी क्रम में डॉ. शुद्धात्मप्रभाजी का समयसार पर किया गया यह कार्य भी सराहनीय है।

डॉ. शुद्धात्मप्रकाश जैन
अध्यक्ष, जैन अध्ययन केंद्र,
सोमैया विद्याविहार विश्वविद्यालय, मुंबई

(४)

मिनी समयसार वास्तव में संपूर्ण समयसार है और समयसार (शुद्धात्मा) को बतलानेवाली अपने आप में अनूठी कृति है। इसका स्वाध्याय हमारे लिए चिन्तनकनिका बन सकती है, हम विशेष स्वाध्याय के लिए मूल ग्रन्थ को माध्यम बना सकते है और जिन्होंने मूल ग्रंथ स्वाध्याय में लिया है उनके लिए यह 'मिनी समयसार' Ready Reckoner बनेगी।

यह कृति सभी जीवों के लिए प्रयोजन की सिद्धि के वरदान रूप साबित हो – ऐसी मंगल भावना के साथ

– सौ.भावना भावेशकुमार शाह,
बोरीवली, मुंबई

(५)

डॉ. शुद्धात्मप्रभा द्वारा मिनी समयसार का प्रणयन उन लोगों के लिए उपयोगी है, जिन्हें कम समय में समयसार का हार्द समझना है। कृति ने गागर में सागर भर दिया है। आपके द्वारा किया गया कार्य स्तुत्य है। सफलता की कामना करता हूँ।

डॉ. अखिल बंसल
सम्पादक समन्वय वाणी, जयपुर

(६)

मिनी समयसार स्वान्तः सुखाय,- स्वयं के सुख के लिए, ज्ञान के लिए, एक साहित्यिक, आध्यात्मिक कृति है।

भारतवर्ष की विख्यात विदुषी, उच्चतम शिक्षा से विभूषित, जैन संस्कृति, धर्म एवं सभ्यता को विश्व के सामने रखने के लिये अपना जीवन समर्पित करनेवाली महान साहित्यिक डॉ. शुद्धात्मप्रभा जी टड़ैया, (M.-.Ph,D) मुंबई, ने लगभग ४७ पुस्तकों का लेखन किया है। एक सिद्धहस्त लेखिका, ग्रंथकार के नाते आप भारत वर्ष में दिगम्बर जैन समाज की प्रतिभाशाली महिलारत्न हैं। डॉ. शुद्धात्मप्रभा जी टड़ैया ने आचार्य कुंदकुंद रचित समयसार की २१ गाथाओं पर मिनी समयसार - विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है, जो वर्तमान में समयसार का अध्ययन करने वाले नवीन पाठकों के लिये पथ प्रदर्शिका है। २० वीं सदी की महान विदुषी, आदरणीय डॉ. शुद्धात्मप्रभा जी टड़ैया, ने समयसार पर मिनी समयसार टीका सरल भाषा में लिखकर अदभुत प्रतिभा का परिचय दिया है। मैने जब मिनी समयसार पढने प्रारम्भ किया मुझे एक विशेष अनुभूति हुई। लगा मेरे सामने प्रकाश ही प्रकाश है। दिमाग में एक विशेष ईमेज बनते नजर आई।।

आदरणीय डॉ. शुद्धात्मप्रभा जी की सभी साहित्यिक कृतियाँ अध्यात्म एवं भेद ज्ञान से परिपूर्ण है। आपको अनेक विषयों का गहन अध्ययन है।

आपने महान समयसार पर एक महान कृति मिनी समयसार टीका लिखकर, जैनतत्वज्ञान अध्यात्मपर साहित्य कृति निर्माण कर विश्व के अध्ययनकर्ताओं के लिये अनुपम नजराना बहाल किया है।

एम सी जैन,
पत्रकार, साहित्तिक मराठी –हिंदी लेखक,
राज्य स्तरीय– रास्ट्र स्तरीय पुरस्कार से सम्मानित

●

लेखिका की अन्य कृतियाँ

शिशु वर्ग

(शिशु वर्ग की सभी पुस्तकें हिन्दी,अंग्रेजी,गुजराती, मराठी, तमिल भाषा में उपलब्ध हैं।)

1. जैन नर्सरी	2. जैन के.जी. भाग-१	3. जैन के.जी. भाग-२
4. जैन के.जी. भाग-३	5. जैन कलर बुक भाग-१	6. जैन कलर बुक भाग-२

किशोर वर्ग

(किशोर वर्ग की सभी पुस्तकें हिन्दी, अंग्रेजी, भाषा में उपलब्ध हैं।)

7. जैन जी.के. भाग-१	8. जैन जी.के. भाग-२	9. जैन जी.के. भाग-३
10. जैन जी.के. भाग-४	11. जैन जी.के. भाग-५	12. जैन जी.के. भाग-६
13. जैन जी.के. भाग-७	14. जैन जी.के. भाग-८	15. जैन जी.के. भाग-९
16. जैन जी.के. भाग-१०	17. चलो पाठशाला, चलो सिनेमा भाग-१	18. चलो पाठशाला, चलो सिनेमा भाग-२
19.सीखें हम गाते-गाते	20. शब्दों की रेल	

सभी वर्ग

21-23. आगम प्रवेश भाग-१, २, ३	24. मुझमें भी एक दशानन रहता है	25. संस्कार का चमत्कार (दादी की कहानी)
26. बढ़ते कदम	27. राम कहानी	28. विचार के पत्र: विकार के नाम
29. तलाश: सुख की	30. मुक्ति की युक्ति	31. एक संभावना यह भी
32. सत्ता का सुख	33. बालबोध प्रशिक्षण गाईड	34. प्रवेशिका प्रशिक्षण गाईड
35. अर्चना गाइड	36 नयचक्र गाईड (अध्यात्म के नय)	37. आगम के नय
38. अनुपम खोज (सप्तभंगी टीका)	39. परीक्षामुख प्रवेशिका (टीका)	40. उपादन निमित्त दोहा (टीका)
41. प्रमाणज्ञान	42. आत्मानुभूति कैसे?	43. जैनदर्शनसार
44. आचार्य अमृतचन्द्र और उनका पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (लघु शोध)	45. आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार: एक समालोचनात्मक अध्ययन (शोध प्रबंध)	46-47. मिनी समयसार भाग-१, २ (e-book)

जैन गेम्स (सभी वर्ग)

1. नो टाइम पास	2. हमारी लाईफ	3. लगे रहो जीवराज
4. चौबीसी (Poster)	5. Maze to Moksh	

●

विद्वत्रत्न डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया

- आपका जन्म अशोकनगर (म.प्र.) में 30 जनवरी 1958 को हुआ।
- केवल 14 वर्ष के आयु में आपने जैन बाल कक्षाएं लेना एवं 18 वर्ष की अवस्था में आपने अनेक आध्यात्मिक विषयों पर प्रवचन देना आरंभ किया।
- आपके द्वारा एम.ए. में लघुशोध निबंध के रूप में लिखी गई पुस्तक मात्र 19 वर्ष की अवस्था (27-11-1977) में प्रकाशित हो गई।
- जैन बाल साहित्य के उत्कृष्ट लेखन हेतु अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत्परिषद् द्वारा 'विद्वत् रत्न' की उपाधि से सम्मानित किया गया है।
- विद्वत् रत्न डॉ.शुद्धात्मप्रभा टडैया को 8 मार्च 2008 को महिला दिवस के अवसर पर मुम्बई की महापौर के शुभ कर कमलों से सम्मानित किया गया है।
- आपने विभिन्न आयुवर्ग को ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न शैलियों में आध्यात्म को जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास किया है।
- कलरफुल चित्रों के माध्यम से रोचक प्रस्तुति और आकर्षक आधुनिक भाषा-शैली में सर्वप्रथम लिखी गई आपकी बाल पुस्तकें मील का पत्थर साबित हुई है।
- आपके द्वारा लिखी गई बाल पुस्तकों में पहेलियों, कविताओं और प्रश्नोत्तर शैली में लिखे गए पाठों के माध्यम से तत्त्वज्ञान एवं भेदज्ञान कराया गया है।
- गद्य-शैली, पद्य-शैली, चम्पू (गद्य-पद्य मिश्रित) शैली, पत्रशैली, डायरीशैली, छोटे-छोटे मंचन योग्य नाटक, बड़े-बड़े नाटक आदि साहित्य की विभिन्न विधाओं के दर्शन आपकी कृतियों में होते हैं।

- ➢ आपकी सभी कृतियाँ अध्यात्मरस से सराबोर और भेद-विज्ञान से ओतप्रोत हैं। सरलता आपकी कृतियों की सबसे बड़ी विशेषता है।
- ➢ आपके निर्देशन में सर्वप्रथम युवाओं के लिए देश भर में art of happy living नाम से सेमीनार कम वर्कशॉप के अनेकों आयोजन भी किए गए हैं।
- ➢ आपके निर्देशन में 'परमागम ऑनर्स' शास्त्री कोर्स का आरम्भ जुलाई 2016 से हो गया है। इस कोर्स में जैन-अध्यात्म का व्यवस्थित, नियमित अध्ययन और जैन सिद्धान्तों को जीवन में उतारने का तरीका सिखाया जाता है। इसमें नई परीक्षा प्रणाली अपनाते हुए Open Book Exam होता है। जिनागम के अध्ययन-अध्यापन के लिए आधुनिक इन्फोर्मेशन टेक्नोलॉजी का उपयोग करते हुए Internet या Teleconfrence call के द्वार कक्षायें ली जाती हैं। इसका संचालन श्रीमती स्वानुभूति द्वारा किया जाता है।
- ➢ युवा वर्ग में आध्यात्मिक संस्कारों के बीजारोपण हेतु, आपने अपने Facebook, instagram के माध्यम से अनेक व्यावहारिक विषयों को आधार बनाकर अत्यंत सरल और सटीक भाषा में स्वाध्याय प्रारंभ किया है ।
- ➢ सम्प्रति आप अपने परिवार के साथ मुंबई में रहती हैं। जहां आपके पति श्री. अविनाशकुमार टडैया का हीरे-जवाहरात एवं डायमंड ज्वैलरी का व्यवसाय है।
- ➢ मुंबई में आप आध्यात्मिक प्रवचन करती ही हैं तथा शिक्षण-प्रशिक्षण शिविरों में आपके द्वारा बालकों और युवाओं के लिए विशेष कक्षाओं का आयोजन किया जाता है, जिसमें सभी कम समय में अधिक से अधिक तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं। ●

हमारे यहाँ प्राप्त महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचन

प्रवचनरत्नाकर भाग 1 से 11 तक/नयप्रज्ञापन
दिव्यध्वनिसार प्रवचन/समाधितंत्र प्रवचन
मोक्षमार्ग प्रवचन भाग-1,2,3,4/ज्ञानगोष्ठी
श्रावकधर्मप्रकाश/भक्तामर प्रवचन
सुखी होने का उपाय भाग 1 से 8 तक
वी.वि. प्रवचन भाग 1 से 6
तक/कारणशुद्धपर्याय

डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल के प्रकाशन

समयसार(ज्ञायकभावप्रबोधिनि)/समयसार का सार
समयसार अनुशीलन सम्पूर्ण भाग 1,2,3,4,5
प्रवचनसार (ज्ञायज्ञेयप्रबोधिनि)/प्रवचनसार का सार
प्रवचनसार अनु. भाग-1 से 3/णमोकार महामंत्र
चिन्तन की गहराईयाँ/सत्य की खोज/बिखरे मोती
बारह भावना : एक अनुशीलन/धर्म के दशलक्षण
बालबोध भाग 1,2,3/तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग 1,2
वी.वि. पाठमाला भाग 1,2,3/ध्यान का स्वरूप
आत्मा ही है शरण/सूक्तिसुधा/आत्मानुशासन
पं. टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व/वैराग्य महाकाव्य
47 शक्तियाँ और 47 नय/रक्षाबन्धन और दीपावली
तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ
भ. ऋषभदेव/प्रशिक्षण निर्देशिका/आप कुछ भी कहो
क्रमबद्धपर्याय/दृष्टि का विषय/गागर में सागर
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव/जिनवरस्य नयचक्रम्
पश्चात्ताप/मैं कौन हूँ/मैं स्वयं भगवान हूँ/अर्चना
मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ/महावीर वंदना (कैलेण्डर)
णमोकार एक अनुशीलन/मोक्षमार्ग प्रकाशक का सार
रीति-नीति/गोली का जवाब गाली से भी नहीं
समयसार कलश पद्धानुवाद/योगसार पद्धानुवाद
कुन्दकुन्दशतक पद्धानुवाद/शुद्धात्मशतक पद्धानुवाद
सम्माधिमरण और सल्लेखना/ये है मेरी नारियाँ
समयसार महामण्डल विधान/प्रवचनसार महामण्डल
विधान/नियमसार महामण्डल विधान/वैराग्य

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल के प्रकाशन

जान रहा हूँ देख रहा हूँ/जम्बू से जम्बूस्वामी
विदाई की बेला/जिन खोजा तिन पाईयां
ये तो सोचा ही नहीं/अहिंसा के पथ पर
सामान्य श्रावकाचार/षट्कारक अनुशीलन
सुखी जीवन/विचित्र महोत्सव/यदि चूक गये तो
संस्कार/इन भावों का फल क्या होगा

अन्य प्रकाशन

मोक्षशास्त्र/चौबीस तीर्थंकर महापुराण
बृहद जिनवाणी संग्रह/रत्नकरण्डश्रावकाचार
समयसार/प्रवचनसार/क्षत्रचूड़ामणि
समयसार नाटक/मोक्षमार्ग प्रकाशक
सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाग-2 (पूर्वार्द्ध+उत्तरार्द्ध) एवं भाग3
बृहद द्रव्यसंग्रह/बारसाणुवेक्खा
नियमसार/योगसार प्रवचन/समयसार कलश
तीनलोकमंडल विधान/ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव
आचार्य अमृतचन्द्र : व्यक्तित्व और कर्तृत्व
पंचास्तिकाय संग्रह/सिद्धचक्र विधान
भावदीपिका/कार्तिकेयानुप्रेक्षा/मोक्षमार्ग की पूर्णता
परमभावप्रकाशक नयचक्र/पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
इन्द्रध्वज विधान/धवलासार/द्रव्य संग्रह
रामकहानी/गुणस्थान विवेचन/जिनेन्द्र अर्चना
सर्वोदय तीर्थ/निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व
कल्पद्रुम विधान/तत्त्वज्ञान तरंगणी/रत्नत्रय विधान
नवलब्धि विधान/बीस तीर्थंकर विधान
पंचमेरु नंदीश्वर विधान/रत्नत्रय विधान
जैनतत्त्व परिचय/करणानुयोग परिचय
आ. कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार
कालजयी बनारसीदास/आध्यात्मिक भजन संग्रह
छहढाला (सचित्र)/शीलवान सुदर्शन
जैन विधि-विधान/क्या मृत्यु अभिशाप है?
चौबीस तीर्थंकर पूजा/चौसठ ऋद्धि विधान
जैनधर्म की कहानियाँ भाग 1 से 15 तक
सत्तास्वरूप/दशलक्षण विधान/आ. कुन्दकुन्ददेव
पंचपरमेष्ठी विधान/विचार के पत्र विकार के नाम
आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम
परीक्षामुख/मुक्ति का मार्ग/युगपुरुष कानजीस्वामी
अलिंगग्रहण प्रवचन/जिनधर्म प्रवेशिका
वीर हिमाचलतैं निकसी/वस्तुस्वातंत्र्य
समयसार : मनीषियों की दृष्टि में/पदार्थ-विज्ञान
व्रती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ/सुख कहाँ है ?
भरत-बाहुबली नाटक/अपनत्व का विषय
सिद्धस्वभावी ध्रुव की ऊर्ध्वता/अष्टपाहुड़
शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति

जैन बाल साहित्य के उत्कृष्ट लेखन हेतु अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत्परिषद् द्वारा विद्वत्रत्न की उपाधि से सम्मानित विद्वत्रत्न डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया को ८ मार्च २००८ को महिला दिवस के अवसर पर मुम्बई की महापौर के शुभ कर कमलों से भी सम्मानित किया गया है। आपका जन्म अशोकनगर (म.प्र.) में ३० जनवरी १९५८ को हुआ।

आपके द्वारा एम.ए. में लघुशोध निबंध के रूप में लिखी गई पुस्तक मात्र १९ वर्ष की अवस्था (२७-११-१९७७) में प्रकाशित हो गई।

आधुनिक बाल जैन साहित्य की प्रणेता आपने जैन सिद्धान्तों को सर्वप्रथम पहेलियों के रूप में प्रस्तुत कर जैन बाल साहित्य को नई दिशा प्रदान की है।

आपके द्वारा लिखी गई बाल पुस्तकों में पहेलियों, कविताओं और प्रश्नोत्तर शैली में लिखे गए पाठों के माध्यम से तत्त्वज्ञान एवं भेदज्ञान कराया गया है।

आपने विभिन्न आयुवर्ग को ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न शैलियों में अध्यात्म को जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास किया है। गद्य-शैली, पद्य-शैली, चम्पू (गद्य-पद्य मिश्रित) शैली, पत्रशैली, डायरीशैली, छोटे-छोटे मंचन योग्य नाटक, बड़े-बड़े नाटक आदि साहित्य की विभिन्न विधाओं के दर्शन आपकी कृतियों में होते हैं।

आपके निर्देशन में सर्वप्रथम युवाओं के लिए देश भर में art of happy living नाम से सेमीनार कम वर्कशॉप के अनेकों आयोजन भी किए जाते हैं।

आपके निर्देशन में 'परमागम ऑनर्स' शास्त्री कोर्स का आरम्भ जुलाई २०१६ से हो गया है। इस कोर्स में जैन-अध्यात्म का व्यवस्थित, नियमित अध्ययन और जैन सिद्धान्तों को जीवन में उतारने का तरीका गुरुओं के मार्गदर्शन में सिखाया जाता है। इसमें नई परीक्षा प्रणाली अपनाते हुए Open Book Exam होता है। जिनागम के अध्ययन-अध्यापन के लिए आधुनिक इन्फोर्मेशन टेक्नोलॉजी का उपयोग करते हुए Internet या Teleconfrence call के द्वारा कक्षायें ली जाती हैं। इसका संचालन श्रीमती स्वानुभूति द्वारा किया जाता है।

सम्प्रति आप अपने परिवार के साथ मुम्बई में रहती हैं। जहाँ आपके पति श्री अविनाशकुमार टडैया का हीरे-जवाहरात एवं डायमंड ज्वैलरी का व्यवसाय है।

आपके द्वारा अभी तक छोटी-बड़ी 48 पुस्तकें लिखी गईं हैं।